आचार्यमम्मटविरचितः

काव्यप्रकाशः

हिन्दीव्याख्योपेतः



प्रथमोभागः (१-३ उल्लासः)



व्याख्याकार

डॉ० छोटेलाल त्रिपाठी

अध्यक्ष, साहित्यविभाग

सं.सं.वि.वि., वाराणसी





सुदर्शन बुक एजेन्सीज, वाराणसी

काव्य प्रकाशः

हिन्दीव्याख्योपेतः

- व्याख्याकार -
डा० छोटेलाल त्रिपाठी
साहित्याचार्य, पी. एच. डी.
व० उपाचार्य
साहित्य विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

सुदर्शन बुक ऐजेन्सीज, वाराणसी

प्रकाशक : सुदर्शन बुक ऐजेन्सीज
प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के
प्रकाशक एवं वितरक
के0 53/126, मध्यमेश्वर (दारानगर)
वाराणसी

प्रथम संस्करण : 2002 (वासन्तिक नवरात्र)

मूल्य :

वितरक : धर्मिक पुस्तक मन्दिर
जगतगंज (सं० स० वि० वि०)
पूर्वी गेट के सामने
वाराणसी – २२१००२

मुद्रक :

विषयानुक्रमणिका

प्रथमोल्लासः

द्वितीयोल्लासः

तृतीयोल्लासः

प्राक्कथन

ॐ गुरुभ्यो नमः

ऋतम्भरा प्रज्ञा से परिपूर्ण कवियों ने अपनी सारस्वत साधना और सृजन से मानवमात्र को रसपान कराया है। कवि और उनके काव्यों की अजस्र निर्झरिणी से सिक्त किसी भी सहृदय को उस निर्झरिणी की रसधारा के स्रोत या उसकी गंगोत्री का अवलोकन करना अवगाहन करना वरवशता हो जाती है। कवि और काव्य तत्वतः या स्वरूपतः अनादि हैं, लेकिन दोनों के पौर्वापर्यनिर्धारण में आज भी संदिग्धता है। क्या कवि शब्द पहले प्रवृत हुआ ? या काव्य शब्द पहले प्रवृत हुआ ? कवि शब्द जाति प्रवृत्ति निमित्तक हैं ? अथवा यौगिकः ? क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तकः। इन विप्रतिपत्तियों के मध्य हमें दो प्रकार के प्रयोग उपलब्ध होते है। "काव्य का कर्ता कवि है", इस प्रयोग से कवि शब्द क्रिया प्रवृत्ति निमित्त सिद्ध होता है। "कवि का कर्म काव्य है", इस प्रयोग को माना जाय तो उसका जाति प्रवृत्तिनिमितत्व सिद्ध होता है। अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कवि शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त निर्धारण में वृद्धव्यवहार ही अन्ततोगत्वा प्रमाण रूप में माना जायेगा। इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य प्रमाणों की प्रमाणिकता पर संदेह किया जाय, किन्तु शब्द द्वारा जिस प्रकार प्रयोजन की सिद्धि होती है, तथा जिस सुगमता से शब्द द्वारा लोकव्यवहार साध्य होता है वैसा अन्य प्रमाणों द्वारा सम्भव नहीं हो पाता। यद्यपि संकेतादि भी व्यवहार के साधन है, किन्तु अन्धकारादि की प्रच्छन्नता में अन्य साधनों का निष्फलत्व भी है। अर्थात अन्य साधनों को अपनी साधनता की सिद्धि हेतु स्वेतर प्रकाश आदि सहायकों की आवश्यकता होती है। लेकिन अपने हृदयगत भावों को अनेक प्रकार से अनेक रूपों में अभिव्यक्त करने हेतु शब्द ही परम साधन प्रतीत होता है। इस प्रकार "कवि का कार्य काव्य है" इस व्यवहार से कवि शब्द जाति बोधक सिद्ध होता है। आचार्यो ने भी काव्यकारण विचार के समय शक्ति या प्रतिभा को प्रधान माना है। जिसे संस्कार विशेष कहा गया है। यह संस्कार पूर्वजन्मकृत कर्म से

प्राप्त होने के कारण नित्य तथा प्राणप्रद रूप है। अतः इस प्रकार भी कवि शब्द जाति रूप सिद्ध होता है। "काव्य का कर्ता कवि है" इस व्यवहार से कवि शब्द क्रियाप्रवृत्तिनिमित्त सिद्ध होता है। यहाँ पर हम उदाहरण एवं निर्णयार्थ महर्षि जैमिनी के न्याय को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते है। महर्षि ने "राजा" शब्द के अर्थ निरूपण प्रसङ्ग में बताया है कि "राजा का कार्य राज्य है", अथवा "राज्य का कर्ता राजा है", यह विप्रतिपत्ति उपस्थित होने पर राजा का कार्य राज्य है। इसी प्रकार कवि का कर्म काव्य है। यह पक्ष आलंकारिकों के अनुकूल भी है। क्योंकि मम्मट भी "लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म को काव्य मानते है।

काव्य के कारणों को बताते हुये मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्य का कारण स्वीकार किया है। लेकिन ये तीनों पृथक्–पृथक् कारण न होकर दण्डचक्रचीवरन्याय से ही कारण है। इन तीनों में शक्ति को कवित्व बीजरूप संस्कार भी बताया गया है। बीज में अंकुरण की सामर्थ्य पहले से ही वर्तमान रहती है। लेकिन क्षेत्रकर्षण, समीकरण दोहदादिविकीर्णन जलसिंचन आदि अंकुर रूप कार्य के लिये आवश्यक होते हैं। इन सभी सहायक साधनों में कुछ की समान सापेक्षता और कुछ की न्यूनाधिक रूप में सापेक्षता स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार काव्य की उत्पत्ति में संस्कार बीज रूप है। संस्कार को अनुभवजन्य आत्मनिष्ठ गुण माना जाता है। इस जन्म में अनुभव का अभाव होने पर भी जन्मान्तरीयशरीरावच्छिन्न आत्मा में वर्तमान अनुभव विशेष से कवितालता की उत्पत्ति होती है। जो कि इस जन्म में आत्मा के साथ विलक्षण रूप से रहने के कारण अनुमान का विषय बनता है। अर्थात पूर्वजन्म में काव्यरचनारूप कार्य किया है, जिसका संस्कार इस जन्म में आत्मा के साथ वर्तमान है। ऐसा उस कवि की प्रतिभा विशेष को देखकर अनुमान लगाया जाता है। लेकिन संस्कार विशेष होने पर भी बिना व्युत्पत्ति अभ्यास के काव्यरूप कार्य सम्भव नहीं है। अतः मम्मट तीनों के समुदित्व में ही काव्य की कारणता स्वीकार करते है। पण्डितराज तो प्रतिभामात्र की अथवा व्युत्पत्ति अभ्यास मात्र की कारणता को स्वीकार करते है। लेकिन

सर्वथा शक्ति मात्र की निरपेक्ष कारणता को प्रायः आचार्यो ने स्वीकार नहीं किया है। वैसे भी पण्डित राजोक्त "तस्य च कारणं कविमता केवला प्रतिभा" अंश का पूर्वोक्त चौथे और सातवें पद्य से समन्वय नहीं हो पाता।

काव्य की आवश्यकता या उसके प्रयोजनों पर जब दृष्टिपात करते हैं तो सर्वप्रथम यह अनुभव होता है कि कवि अपनी लोकोत्तर रचना से सहृदयों को अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। सामान्यतया पुरूषार्थ चतुष्टय काव्य के प्रयोजन माने गये है, जैसा कि अन्य शास्त्रकारों की परम्परा में बताया गया है। मम्मट ने छः प्रयोजन माना है। कुछ आचार्य कीर्ति और प्रीति को विशिष्ट रूप से स्वीकार करते है। सामान्यतया पुरूषार्थ सिद्धि ही प्रयोजन है। "पुरूषेण अर्थ्यते पुरूषार्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार मानवमात्र द्वारा जीवन के प्रमुख उद्देश्यों की सिद्धि ही पुरूषार्थ है। पुरूषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार माने गये है। शास्त्रकारों द्वारा निर्णीत उक्त चारों पुरूषार्थों में कवियों द्वारा परिभाषित प्रयोजनों को अन्तर्भावित किया जा सकता है। पुरूषों द्वारा अर्थित अर्थात प्रार्थना का विषय वनाये गये पुरूषार्थो का सार लौकिक या आत्यान्तिक सुख है, जिसकी मानवमात्र अपेक्षा करता है। इन चारों प्रकार के पुरूषार्थों में धर्म को प्रथम बताया गया है। चरम मोक्ष है। इन चारों में क्रमशः उत्तरोत्तर प्रकर्षता मानी जाती है। जहाँ काम और मोक्ष सुखस्वरूप है, वहीं धर्म और अर्थ उनके साधन है। धर्ममूलक अर्थ और सुख सापेक्ष होने के कारण ही धर्म को प्रथम बताया गया है। इस प्रकार शास्त्रकारों और कवियों के प्रयोजन में ऐक्य होते हुये भी जहाँ शास्त्राभ्यास में कष्ट साध्यता है वहीं काव्याभ्यास में सुखानुभूति है। कवि अपनी अलौकिक प्रतिभा से लोकोत्तर कविता का सृजन करके काव्य प्रेमियों को आल्हादित करता है। लोकोत्तरवर्णना निपुण कवियों की रचना–प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न उद्देश्यों के लिये होती है। मम्मट ने कविता के छः प्रयोजनों को स्वीकार करते हुये प्रवृत्तिभेद से फलभेद स्वीकार किया है। तथापि फलों (प्रयोजनों) में परस्पर उपकारकत्व स्वतः सिद्ध होता है। काव्य रचना में किसी कवि कि प्रवृत्ति यश प्राप्ति के लिये, किसी की अर्थ

प्राप्ति हेतु या अन्य की पापों के विनाश के लिये होती है। लेकिन प्रयोजन विशेष को लेकर कवि द्वारा की गई रचना यदि अन्य प्रयोजनों को साधने में समर्थ नहीं है उस कविता से यदि सहृदयों को आनन्दावाप्ति नहीं होती, यदि लोक को कुपथ से सुपथ में प्रवृत्त करने में कवि की कविता समर्थ नहीं है। राम की तरह आचरण करना चाहिये, रावण की तरह नहीं, इस प्रकार को सदसत् विवेचनी बुद्धि को उद्भावित करने में समर्थ नहीं है, तो उस कविता को लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म नहीं कहा जा सकता, और न हीं उस कविता से किसी प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। अतः तत्वतः कवि की रचना जितनी कवि के लिये फलदायी होती है, उतनी ही सहृदयों के लिये आल्हादक तथा लोक गरिमा से परिपूर्ण होती है। जैसे कवियों की रचना प्रवृत्ति विभिन्न प्रयोजनात्मिका होती है, वैसे ही रूचि भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। कुछ कवियों में यदि चित्र काव्यरचनाचातुर्य परिलक्षित होता है, तो अन्य कवि गुणीभूत काव्यसंसार का सृजन करने में तृप्ति अनुभव करते है। अन्यों की प्रवृत्ति ध्वनि काव्यरचना में परमाल्हाद का अनुभव करती है। यही भेदात्मिका वृत्ति काव्य रसिकों में भी देखने को मिलती है। अर्थात् कुछ लोग चित्रकाव्यों में ही आनन्द का अनुभव करते है, तो अन्य गुणीभूत काव्यों में तृप्ति का सुख प्राप्त करते है। ध्वनि काव्य की परमरमणीयता में रमण करने वाले सहृदय भी कम नहीं है। इस प्रकार कवि और सहृदय दोनों के ही विभिन्न रूचि सम्पन्न होने के कारण काव्य रचना, विषयवस्तु और चमत्कृति में विलक्षणता देखने को मिलती है।

इस प्रकार प्रयोजन विशेष या कवि की रूचि विशेष को दृष्टिगत करते हुये रचित रचना की सार्थकता की सफलता तब तक आकलित नहीं हो सकती, जब तक की वह रचना लोकरञ्जकता से परिपूर्ण न हो। कवि हो या ऋषि, दोनों का उद्देश्य समाजोपकारत्व प्रधान है। दोनों ही समाज परिष्कार में निरन्तर प्रयत्नशील रहते है। समाजिकों की दुष्प्रवृत्ति या दुराचार का अनुभव करके जहीं ऋषि वर्ग प्रभुशब्दानुशिष्ट सामाजिकाचारों को सुहृत्सम्मित शब्दों के द्वारा भूयः-भूयः स्मरण कराते हुये उनमें सत्प्रवृत्ति को उद्भाषित करता है, दुष्प्रवृत्तियों

से विरत करता है, वहीं कवि इन्हीं श्रुतिस्मृत्योपदिष्ट वचनों को, उन्हीं समाजिकाचारों, को या सामाजिक विषयों को कान्तासम्मितोपदेश के द्वारा समाजिकों का हृदयङ्गम कराते है। भारतीय काव्यशास्त्रों के अवलोकन से यह भी प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रान्तों और राज्याश्रयों में निवास करने वाले कवियों की प्रवृत्ति राज्य या प्रान्त की खण्डित भावना से सर्वथा निमुक्त अखण्ड भारत की प्रतिष्ठापना और संरक्षण में सतत् अग्रगामी रही है। इसके बाद भी कवियों ने पूर्ववर्ती ऋषियों और स्मृतिकारों को ही अपना उपजीव्य बनाकर काव्य संसार की सर्जना की है। इसीलियें कुमारिलभट्ट कवियों को ऋषियों से पृथक मानने के लियें तैयार नहीं होते। कवियों की इस प्रकार की प्रवृत्यात्मक एकरूपता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि तात्कालिक समाज में कवियों की महती प्रतिष्ठा थी और समाज का प्रत्येक वर्ग कवियों की उपादेयता के महत्व को सर्वात्मना स्वीकार करता था। कवि रसास्वादन पुरस्सर लोकपरिष्कार हेतु शब्दार्थोभयगत सौंदर्याभिव्यक्ति के साथ साथ भावाभिव्यक्ति में सतत् प्रयत्नशील रहते थे। क्योंकि यदि सामाजिकों की कवियों और उनके काव्यों के प्रति समादर भावना न होती तो इस प्रकार के विपुलकवितावाङ्मय की सर्जना में कवियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थीं। क्योंकि बिना परस्पर सापेक्षता के इस प्रकार के गौरवपूर्ण कार्य का होना सर्वथा असम्भव है। कवियों की यह काव्य रचनापरम्परा किसी काल विशेष से प्रतिबन्धित न होकर चिरन्तन काल से ही अनितरसाधारणी रही है। कविता को कालविशेष की सीमा में प्रतिबद्ध नहीं किया जा सकता। कविता लोक में ही सौंदर्य का बोध कराती है। जैसे जगत की रचना में "धातायथापूर्वमकल्पयत" इस श्रुति वाक्य से अनादित्व का निश्चय होता है। इसी प्रकार काव्यपुरूष भी पूर्व से ही कविता का सृजन करके उसके अनादित्व को प्रतिष्ठापित करता है।

काव्य रचनाकारों की कालपरिगणना करते हुये हम उन्हे अनुमान के आधार पर विभिन्न कालों में प्रतिबद्ध करते है। वास्तविक रूप से कौन कवि कब हुआ, यह इदमित्थम रूप से कहना सर्वथा असम्भव है। लक्षणग्रन्थों के रचयिता भरत मुनि प्रभृति हो या लक्ष्यग्रन्थों के रचयिता भास कालिदासादि हों, सभी का काल निश्चय आनुमानिक ही है। आज भी हम

किसी निश्चयात्मक निर्णय की सीमा का स्पर्श नहीं कर पायें है। अतः यह कहना युक्ति संगत ही प्रतीत होता है कि कवियों या मनीषियों के जन्मस्थान, काल आदि के चिन्तन में समय का अतिक्रमण न करके उनकी रचनाओं में प्रवृत्ति जागृत करनी चाहिये। काव्य महाफलों को देने वाले होते है। इसीलियें कवियों ने वेद शास्त्रों पुराणों के होते हुये भी काव्यों की प्रभूत रचनायें की है। काव्यशास्त्र की रचना में यद्यपि लौकिक कवियों की अविच्छिन्न परम्परा और प्रभूत संख्या है, तथापि इस परम्परा का उद्भव भी आर्ष है। जिसमें वाल्मिकी, व्यास और भरत प्रमुख है। वाल्मिकी और व्यास जहाँ काव्य ग्रन्थों या लक्ष्य ग्रन्थों के रचयिता है, वहीं भरत नियामक या लक्षणग्रन्थ के निर्माता है। लक्षणग्रन्थ के निर्माताओं में भरत, भामह, वामन, दण्डी आनन्दवर्धन, भोजराज, धनिक, कुन्तक, मम्मट, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ, पण्डितराज प्रमुख माने जाते है। इन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्यविषय काव्य प्रकार, कारण प्रयोजन लक्षण, शब्दव्यापार, अर्थ भेद, दोष, गुण अंलकार रीति और इनके आधार पर काव्य के भेदों का निर्धारण है। इस प्रकार लक्षण ग्रन्थकारों के विषयवस्तु या वर्ण्य विषय के आधार पर छः सम्प्रदाय निर्धारित किये गये है।

१– रस सम्प्रदाय
२– अलंकार सम्प्रदाय
३– रीति सम्प्रदाय
४– वक्रोक्ति सम्प्रदाय
५– ध्वनि सम्प्रदाय
६– औचित्य सम्प्रदाय

लक्षण ग्रन्थकारों में आद्याचार्य भरतमुनि का उल्लेख सर्वप्रथम आता है। हमारे संस्कृत वाङ्मय में वैदिक वाङ्मय से लेकर अद्यावधि सम्पूर्ण वाङ्मय को उपदेश की दृष्टि से तीन वर्गो में संकलित किया जाता है। १. प्रभुसम्मित शास्त्र २. सुहृत्सम्मित शास्त्र ३. कान्तसम्मित शास्त्र। तीनों प्रकार के उपदेशों में कथा आख्यायिका, दृष्टान्त और प्रयोग विज्ञान का प्रयोग किया गया है। उत्तरवर्ती सम्पूर्ण वाङ्मय अपने उपजीव्य वैदिक वाङ्मय से अनुशासित है। अनुशासन में गति और विकास वर्तमान रहते है। हमारे वाङ्मय की मध्यमणि के रूप

में आचार्य भरत और उनके आर्ष ग्रन्थ नाट्यशास्त्र का अभ्युदय होता है। भरत का नाट्यशास्त्र लोकमञ्च का प्रयोगविज्ञान है। यह ग्रन्थ संस्कृतवाङ्मय की वह प्रथम आर्ष रचना है, जो वेदों से अनुस्यूत, ऋषिप्रणीत और समाज के सभी वर्गों द्वारा ग्राह्य एवं आनन्ददायक तथा शिक्षाप्रद है। इसे पाँचवा वेद भी माना गया है। भरतमुनि ने "ब्रह्मणा यदुदाहृतम्" के अनुसार ब्रह्मा का साक्षात् शिष्यत्व प्राप्त किया था। इसीलिये सम्भवतः नाट्यशास्त्र को पाँचवा वेद भी कहा जाता है। तदुत्तरवर्ती प्रायः सभी लक्षण ग्रन्थकारों ने नाट्यशास्त्र को उपजीव्य मान कर ही अपने ग्रन्थों की रचना की है।

दूसरी परम्परा लक्ष्यग्रन्थकारों की है। लक्ष्यग्रन्थकारों में भी आर्ष कवि के रूप में वाल्मिकी का नाम सर्वप्रथम आता है। रामायण वाल्मिकी द्वारा विरचित महाकाव्य कवि परम्परा का प्रथम सोपान है। राम की तरह आचरण करना चाहिये, रावण की तरह नहीं। यह उक्ति (कान्तासम्मितोपदेश) रामायण से ही अनुस्यूत है। रामायण वेदों का सार है। और राम साक्षात् परब्रह्म हैं। जो कि निम्न कथन से पुष्ट होता है।

वेद वेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादागात् साक्षात् रामायणात्मना।

इस प्रकार वेद रामायण के रूप में वाल्मिकी ने प्रस्तुत किया है। छन्दोबद्ध काव्यों की परम्परा में रामायण महाकाव्य परवर्ती महाकवियों की परम्परा में मार्गदर्शक है। इसी प्रकार भास, कालिदास, अश्वघोष आदि कवियों के काव्यों का विमर्शन करते हुये परवर्ती कवियों ने उसी शैली का आश्रय लेकर या अपनी प्रतिभा से अन्यशैली का आश्रय लेकर तात्कालिक या उत्तरवर्ती समाज की आवश्यकता के अनुरूप काव्यों की रचना की। कोई भी कवि जब काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो पूर्व कवियों की परम्परा, औचित्यानौचित्य की धारा तथा अंलकारशास्त्र की सरिणी का ध्यान रखते हुये ही काव्य रचना में प्रवृत्त होता हैं। यद्यपि काव्य रचना में कवि पूर्णतया स्वतंत्र होता है। लेकिन कवि की यह स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता या स्वेच्छाचारिता नहीं है।

पूर्वाचार्यों द्वारा व्यवस्थापित अनुशासन का उल्लघंन ही उच्छृङ्खलता है। कवि के लिये यह अनुशासनभङ्गता कभी भी स्वीकार्य नहीं होती है।

लोकशास्त्रकाव्यादि के अवेक्षण को कवि का अनुशासन मम्मटाभिमत है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रत्येक कोण में वर्तमान कवि अपनी विलक्षण प्रतिभा शक्ति से तत्तद्देशीय सम्प्रदायों के आचार व्यावहार को अपनी अनितरसाधरणी अलौकिक दृष्टि से हृदयङ्गम करके कहीं अतिदेश और कहीं उपदेश का आश्रय लेकर लोकोत्तर वर्णना द्वारा सामाजिकों को उपष्कृत करते है। उपष्कृत ही नहीं करते अपितु अपनी अलौकिक रचनाओं से सामाजिक परिष्कार भी करते हैं।

भास से लेकर आद्यावधि अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होने वाली इस काव्यसर्जना को हम तीन कालों में विभाजित या वर्गीकृत कर सकते है। १. कविता का हास (उद्भव) काल २. विकास काल। ३. ह्रास काल। इन तीनों कालों का वर्गीकरण कविता की रचनाधर्मिता से जितना सम्बन्ध रखता है, उससे कहीं अधिक उस कविता के प्रति लोकरूचि, लोकप्रवृत्ति का सम्बन्ध है। वाल्मिकी से लेकर भास तक हम कविता का उद्भवकाल कह सकते है। भासोत्तर तथा रत्नाकर के पूर्व का काल विकासकाल कहा जा सकता है। रत्नाकरोत्तर काल यद्यपि कविता की दृष्टि से परिपूर्ण है। लेकिन देश की राजनैतिक उथल–पुथल और सामाजिक अशान्ति के कारण कविता की प्रभावशालिता में केन्द्रीयकरण की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी। जहाँ प्राचीन भारतीय समाज में प्रसिद्ध काव्यों के अध्येताओं को सम्मानित दृष्टि से देखा जा सकता था। वहीं वर्तमान में यह व्यवस्था जर्जर रूप में ही उपलब्ध होती है। कोई भी कर्मफल पर्यवसायी होता है। कविकर्म फल से ओतप्रोत होता है। लेकिन कविकर्म का फल सहृदनिर्णयाधीन होता है।[1] कवि का सम्पूर्ण अध्यवसाय यद्यपि सामाजिकों का हितसाधन है, तथापि फल विध्यधीन होते है।[2]

१. आपरितोष्टाद्विदुषां
२. करोतुनामनीतिज्ञः

जगत्सृष्टा की निर्मिति में नियमविशेष का पालन आवश्यक है। इसी नियम के अधीन सृष्टिकर्ता सृष्टि की रचना करता है। यह रचित सृष्टि नैकविध है। इसमें अनेकों सेव्य पदार्थों की रचना हुई है। लेकिन विधि सृजित समस्त पदार्थ सर्वजन सेव्य हों, ऐसा सम्भव नहीं है। "भिन्नरूचिर्हि लोकः" इस सिद्धान्त के अनुसार लोकपदार्थो का सेवन प्रत्येक मनुष्य अपनी रूचि के अनुसार करता है। इससे न तो स्रष्टा की न्यूनता सिद्ध होती है। और नहीं गृहीता की अज्ञानता ही प्रमाणित होती है। कूष्माण्ड की कोमल लताओ में बड़े-बड़े फलों का उत्पन्न होना, और वट जैसे विशाल वृक्ष में छोटे-छोटे फलों का उत्पन्न होना, सृष्टि का नियम है। इससे अर्थात् बड़े फलों को उप्तन्न करने के कारण न तो कोमल लताओं का गौरव है और न हीं छुद्र फलों के उत्पन्न करने से वटादि वृक्षों की गर्हणा है। यदि सृष्टि के इस नियम का उल्लंघन या व्यतिक्रम होता है तो इससे लोकजीवन ही प्रभावित होगा। यदि कदाचित् वट वृक्षों में कूष्माण्ड जैसे बड़े-बड़े फल लगनें लगे तो आतपक्लान्त लोग वटच्छाया का सेवन नहीं कर पायेंगे। इससे यह प्रतीत होता हैं कि विधि सम्यक् विचार करके हीं सृष्टि की रचना करता है। इसी प्रकार कवि प्रजापति भी समय का पालन करते हुये लोकमङ्गल हेतु काव्यसंसार की सर्जना करता है।[1]

जगत्सृष्टा द्वारा अपनी रचना में उपादानसामग्री के रूप में पञ्चमहाभूतों का आश्रय लेता है। लेकिन कवि प्रजापति काव्यसंसार के निर्माण में सृष्टा द्वारा सृजित सामग्री को ही अवलम्बन बनाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि काव्यसंसार की रचना करने वाला कवि जगत्सृष्टा की रचना को ही आधार बनाता है तो उसे अपना उपजीव्य क्यों नहीं स्वीकार करता है ? इसके उत्तर में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कवि प्रजापति की रचना जगत् से विलक्षण है। अतः न तो उसे उपजीवक कहा जा सकता है, और नहीं समानता स्थापित की जा सकती है। क्योंकि कवि अपनी कल्पना शक्ति से ऐसे विलक्षण काव्य संसार की रचना करता है जिसमें नियति के नियम की सर्वथा निर्बन्धता के साथ-साथ दुःख

१. अपारे काव्यसंसारेकविरेकः प्रजापतिः

और मोह से परे आनन्द ही आनन्द है। जो लौकिक न होकर निरतिशय या अलौकिक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कवि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र तथा उच्छृङ्खल है। वह भी समय (कविपरम्परा) से बद्ध हो कर काव्य रचना के उपादानों और नियमों का आश्रय या अनुसरन् करते हुये काव्य रचना करता है। लेकिन कवि की रचना प्रक्रिया या निर्माण कौशल विलक्षण है। जहाँ एक ओर जगतसृष्टा पर्वतों में लताओं का सृजन करता है, वहीं कवि प्रजापति लताओं में शैलों का सृजन करता है। कुसुमों के सौरभ की सीमा हो सकती है, लेकिन नायिका के मुख सौरभ अलौकिक है। लोक में प्राप्त रसों में सातिशयता है, लेकिन रदच्छदरस निरतिशय है। समुद्र की गम्भीरता का आकलन किया जा सकता है, लेकिन नायिका के नेत्रों का गाम्भीर्य केवल अनुभव का विषय ही हो सकता है। कवि की रचना की यह विलक्षणता कहीं भी विसृंखलता को उत्पन्न नहीं करती। अपितु सहृदयों को उससे अलौकिक आनन्द ही प्राप्त होता हैं। वैलक्षण्य तो यह है कि कवि का यह वर्णन वैचित्र्य किसी भी दृष्टि से असत्य प्रतीत नहीं होता है। लताओं में पर्वत का सृजन और उन कोमल लताओं द्वारा पर्वत धारण सामर्थ्य की प्रतीति में स्वाभाविकता का अनुभव कराना ही कवि का वैलक्षण्य एवं स्वातन्त्र्य है। याथातथ्येन पदार्थ परिकल्पनामात्र ही कवि का उद्देश्य नहीं होता। कवि का उद्देश्य होता है सहृदयों के हृदय का आवर्जन तथा अलौकिक आनन्दानुभूति कराना। इतना ही कवि के लिये पर्याप्त नहीं है। कवि अपनी कविता के द्वारा स्वरूपानन्द की प्राप्ति के मार्गों का समुन्मीलन भी करता है। सुसुप्तावस्था को प्राप्त या अन्तःकरण वृत्तियों से अवच्छिन्न नाना दुःखों का अनुभव करने वाला अहंकारस्वरूप आत्मचैतन्य आवरणरहित होकर जागृतावस्था को प्राप्त करे, यह कवि का प्रधान उद्देश्य होता है। कवि की लेखनी यहीं विराम नहीं लेती, अपितु वह सांसारिक लोगों को जागृतावस्था में भी उस अलौकिक आनन्द का अनुभव कराती है, जिस आनन्द को प्राप्त करने के लिये योगी जन समाधि का आश्रय लेते है। इस प्रकार के अलौकिक वर्णन में प्रवृत्त कवि आनुसङ्गिकरूप से हृदयावर्जक विविध मनोहर वर्णनों को प्रस्तुत

करता है। तथा सहृदयों को उस सीमा तक पहुँचा देता है, जहाँ अलौकिक रस चर्वणा की प्राप्ति होती है। कवि का वर्णना वैचित्र्य विषय निबन्धनपरक होता है। क्योंकि विषयविधि के समाश्रयण के विना प्रत्यक्षवत् अनुभूति सम्भव नहीं हो सकती है। विषय प्रस्तुतीकरण–वैचित्र्य विविधात्मक है।

कवि के इस लोकोत्तर वर्णनावैचित्र्य को निम्नलिखित रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

१. वर्णना वैचित्र्य
२. संघटना विशेष
३. अंलकार चातुर्य

इस प्रकार की विशेषण विशिष्ट रचनाओं की प्रवृत्ति कवि की स्वेच्छापरक न होकर लोकरूच्यात्मक ही होती है। अथवा इस प्रकार की रचनाओं के द्वारा कवि लोकरूचि को उत्पन्न करता है। दोनों ही स्थितियों में काव्य समाजपरिष्कारक, सन्मार्गप्रवर्तक तथा आनन्दानुभावक सिद्ध होते है। कविता की यह सोपान परम्परा अपने आधारभित्ति के रूप में जिस धरातल का आश्रयण करती है, वह आदि कवि वाल्मिकी द्वारा रामायण के रूप में बहुत पहले ही स्थापित की गयी थी। रामायण महाकाव्य जहाँ अपने उत्तरवर्ती महाकवियों के लिये पथप्रदर्शक है, वही शब्दार्थचयन, दोषपरित्याग, गुणालंकाररससमन्वय, लौकिकालौकिक रस समवाय, दिव्यादिव्योत्कृष्ट नायकों और उनके माध्यम से प्रस्तुत कथानकों का आधारभूत आधार भी है। रामायण महाकाव्य को कविता की मन्दाकिनी कहना अत्युक्ति नहीं होगी। इसके कण–कण से उत्तरवर्ती कवियों ने अपने को परिपूत ही नहीं किया अपितु उसके विभिन्न स्रोतों का आश्रयण करके कविताकामिनी का निरतिशय अलंकरण किया है। रामायण महाकाव्य का काव्यगत् वैशिष्ट्य आकलन करने के लिये इतना ही कथन पर्याप्त है कि अष्टादशपुराणों के प्रणेता व्यासाचार्य की कृतियों को भी वह काव्यगत प्रथिमान नहीं प्राप्त हो सका जो आदिकवि के एक ही ग्रन्थमहारत्न को प्राप्त हुआ है। यद्यपि उत्तरवर्ती कवियों ने बाल्मिकी और व्यास

दोनों को अपना उपजीव्य बनाकर अपनी प्रतिभा से रसगुणादि से परिपूर्ण, प्रयोजन चतुष्ट्य संबलित काव्यसरिणी का सवंर्धन किया है। तथापि शोक को श्लोक में उपनिबंधित करने में आदिकवि को ही गौरव प्राप्त है। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते है तो यह प्रतीत होता है कि अपौरूषेय वेद और ऋषियों द्वारा रचित उपनिषदादि के अतिरिक्त काव्यादि ग्रन्थों के प्रणयन में अनेकों हेतु है। जहाँ वाल्मिकी की वाणी छन्दोमयी वाणी कारूणिक दृश्य को देखकर प्रस्फुरित होती है, वहीं व्यासाचार्य अन्याय और अधर्म के विरूद्ध लेखनी का प्रयोग करते है। बाल्मिकी सर्वगुण समपन्न ब्रह्मस्वरूप राम को अपनी रचना के नायकरूप में प्रस्तुत करते है। वहीं महर्षि व्यास कृष्ण को प्रमुख मान कर वीर पाण्डवों को पात्र के रूप में चयन करते है। रामायण के नायक श्रीराम मर्यादापुरूषोत्तम हैं। व्यासमुनि की रचनाओं के अभिप्रेत नायक योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण लीलापुरूषोत्तम हैं। मर्यादा वर्णन के माध्यम से दोनों महर्षियों द्वारा समाजनिर्माण, उसका पालन, नियमन और सरंक्षण का प्रयोग कविता के माध्यम से परमश्लाघनीय और आचरणीय और शाश्वदाचरित है। उक्त दोनों महर्षियों द्वारा प्रवर्तित प्रस्थान का समाश्रयण करते हुये उत्तरवर्ती कवियों और महाकवियों ने अपने–अपने समय के राजाओं शासकों को अपनी कविता कामिनी का नायक बनाकर उनके गुणों और आचरणीय प्रवृत्तियों का विभिन्न रसरीति और अलंकारों से निर्भर पुष्ट और अलंकृत करके लोकोत्तर नववधू के रूप में उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुये ऋषिद्वय द्वारा प्रतिष्ठापित परम्परा का सम्वर्धन किया है। कवियों द्वारा विरचित रचनाओं का ऐतिहासिक प्रामाणिकता का पक्ष भी विशेष महत्वपूर्ण है। साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। किसी भी तात्कालिक समाज के विषय, घटनाक्रम, युग (काल) और देश का महत्वपूर्ण स्थान होता है। साहित्यरूपी सागर में कविता (काव्य) साहित्य भूत, भविष्य और वर्तमान का समानरूप से बोध कराता है। जो अन्य साहित्य में सम्भव नहीं है। अन्य साहित्य आनन्दरहित भूत और वर्तमान का ही बोध करा सकते है। इसका प्रमुख कारण कवियों की क्रान्तदर्शिता है। "नानृषिः कुरूते काव्यम्"

इस उक्ति से उसका परहृदयतलस्पर्शित्व स्वतः सिद्ध होता है। प्रत्यक्षानुभूति में काव्य साहित्य परमसाधन है। कवि का यही वैशिष्ट्य है कि वह अपने वर्णनावैचित्र्य से अतीत, अनागत और वर्तमान का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के साथ–साथ अनुभविता को परमाल्हाद की अनुभूति कराता है।

साहित्यशास्त्र के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान इस तथ्य से सहमत है कि अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने के अनन्तर ही साहित्यशास्त्र में गति हो सकती है। जिसका अभिप्राय यह है कि सभी शास्त्रों का प्रणयन मानव समाज के उपकारक के रूप में ही किया गया है। शास्त्र विषयपरक होते हैं। लेकिन कवियों द्वारा निर्मित शास्त्र गुणपरक होते है। क्योंकि गुण गुणियों में अर्थात् चेतनों में ही होते है। उन समस्त चेतनों में मनुष्य का स्थान अत्युच्च है। कविता स्वयं में कमनीया (कामिनी) नायिका है। उसके आभ्यन्तरिक और वाह्य अलंकरणों की अभिव्यक्ति अथवा तत्वविशेष लावण्य की अभिव्यक्ति हेतु स्वात्मभूत रसों तथा गुणों और स्वाङ्गभूत शब्दार्थोभयाश्रित अलंकारों, रीतियों तथा वृत्तियों से परिपूर्ण होना आवश्यक है। कविता का यह ऊर्जस्वल स्वरूप तभी प्राप्त हो सकता है जब अन्य समस्त शास्त्रों का आलोडन किया जाय। तथा ऐसी कविता का वर्ण्यपुरूष भी अत्युत्कृष्ट गुणों वाला ही हो सकता है। इसी बात को दृष्टिगत करते हुये कविता को सभी शास्त्रों का सार कहा गया है।

समाज के प्रतिबिम्बभूत काव्य के अनुशीलन या उसकी रचना के समय उसमें वर्ण्यविषय के रूप में प्रस्तुत तत्सम्बन्धित शासक, मानवीयगुण, दोष और उससे प्राप्त होने वाले फल वस्तुतः दर्पणगत प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत होते है।

कविता का कथानक कैसा भी हो। काल्पनिक, दिव्य अथवा अदिव्य हो। जब कवि कथानक का समाश्रय करके कविता की सरंचना करता है तो उसे अपने समसमकालीन देश, काल और परिस्थितिरूप साधनों का आश्रय लेना पड़ता है। यद्यपि कलाकृतियाँ या अन्य भौतिक सामग्रियॉ भी तात्कालिक्र समाज की दशा, दिशा

और अवनति तथा अभ्युन्नति का दर्पण (प्रतिबिम्ब) होती है। तथापि काव्यों में उक्त विषयों की उत्कृष्टतया प्रतीति ही नहीं होती अपितु उनकी प्रत्यक्षवदनुभूति भी होती है। इसके बाद भी आनन्दानुभूति अतिरिक्त एवं विशिष्टफल प्राप्त होने के साथ–साथ हृदयपरिवर्तन और समाज परिष्कार भी काव्य से ही सम्भव है। कविता को आध्यात्मिक और भौतिक समन्वय का संगम कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। वाल्मिकी स्वयं आध्यात्मिक चर्यापरायण होते हुये भी भौतिक जीवन के संघर्ष और उसके उदात्त तथा अनुदात्त पक्षों को अपना वर्ण्यविषय वनाकर काव्ययुग के उद्भावक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होते है। अनन्तरोत्तरवर्ती काव्यपरम्परा की दोनों शाखायें लक्ष्य तथा लक्षणरूप में प्रवाहित होते हुये भी रामायण को ही आधारभित्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

कविता कवि की रचना या काव्य है। जिसे हम साहित्यशास्त्र के नाम से सम्बोधित करते हैं। क्योंकि जब साहित्यशास्त्र के अध्ययन हेतु सामग्री का चयन अपेक्षित होता है तो कवि और उसकी रचनाओं की ही परिगणना होती हैं। कवि की रचना ही कविता या काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र है। कविता लोकसन्दर्भ सम्मत है। लोकव्यवहार ही काव्यप्रतिपाद्यविषय होता है। उसकी दो परम्परायें आम्नात् है। पहली लक्ष्यग्रन्थों की परम्परा है, जिसमें काव्यस्वरूपतः ज्ञेय होता है। दूसरी परम्परा लक्षणग्रन्थों की है जिसमें कविता सामग्री, सोपान, निर्माण नियम और प्रयोजन संदर्भित हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र का आनन्त्य स्वीकार करना पड़ता है। वैशिष्ट्य यह है कि दोनों परम्पराओं में ग्रन्थों से रसगुणालंकारादि की समान प्रतीति होती है। फलवत्ता दोनों की समान है। अंगभूत सामग्री भी उभयत्र समानरूप में पायी जाती है। भेदकत्व दोनों परम्पराओं में क्या है, इस पर जब विचार करते है तो पाते है कि जहाँ काव्यों में रसगुणादि प्रधानरूप से अर्थात् विशेष्यरूप से वर्णित हो वहाँ लक्षणग्रन्थ और जहाँ ये सब विशेषण रूप से वर्णित हों, उन ग्रन्थों को लक्ष्यग्रन्थ कहा जाता है। साहित्यशास्त्र की परम्परा में लिखें गये लक्षणग्रन्थों की यह विशेषता है कि उनमें सिद्धान्त पक्ष और प्रयोगपक्ष दोनों

वर्तमान रहते है। सिद्धान्त में सूत्र शैली का प्रयोग होते हुये भी उदाहरण पक्ष वर्णनावैचित्र्य से ओतप्रोत है। लक्ष्यग्रन्थों को काव्याङ्ग माना जाता है। तथा उनकी फलवत्ता भी लक्षणग्रन्थों के समान हैं। इन दोनों की बिना शब्दार्थरूप लक्षणग्रन्थों की साहित्यशास्त्र में गणना कठिन होगी। क्योंकि शब्दार्थ का काव्यत्वनियामक धर्म साहित्य है।

धर्म से धर्मी का उल्लास होता है। काव्य में आत्मतत्व के रूप में रस की प्रतिष्ठापना की गयी है। "काव्यात्मभूतो रसः", "काव्यस्य मुख्यार्थो रसः", इन उक्तियों द्वारा शब्दार्थ का रस निष्पादक तत्व साहित्य शास्त्र में विषयवस्तु के रूप में शब्द, अर्थ और उनके विशेषण के सामुदायिक स्वरूप को काव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। शब्द और अर्थ का आत्मस्थानीय रस है। इसके धर्मरूप में गुणों की सत्ता स्वीकार की गयी है। शरीर स्थानीय शब्दार्थ और उनके आश्रित गुणांलकार रीति तथा वृत्तियों को प्रसिद्धि प्राप्त है। दोषों का विघातक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार कवियों द्वारा प्रतिष्ठापित विश्लेषणात्मक प्रस्थानों को भी साहित्यशास्त्र के अंगों के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। तत्वतः व्याकरण दर्शन का अनुगमन करने के कारण साहित्यशास्त्र की वस्तुगत्या अद्वैतदर्शन में हीं चरम विश्रान्ति होती है। और इन्हीं समस्त अंगों प्रत्यगों रसतत्वप्रधानवाङ्मय को साहित्य शास्त्र कहा जाता है। साहित्यशास्त्र की इस धारा को अविच्छन्नता प्रदान करनें में लक्ष्य और लक्षणग्रन्थ रचयिताओं की दीर्घकालीन परम्परा वर्तमान है। लक्ष्यग्रन्थों की रचना परम्परा में महर्षि वाल्मिकी प्रथम आचार्य है। और उनका काव्य वाल्मिकी रामायण आदि काव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसी रामायण महाकाव्य को उपजीव्य बनाकर उत्तरवर्ती महाकवियों की काव्य यात्रा प्रारम्भ हुयी है। जिसमें भास, कालिदास प्रमुख है। यह काव्यों की सृजनात्मक परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान है। दूसरी परम्परा समालोचना शास्त्र की है। जिसके उद्भावक आचार्य भरतमुनि है। जिनका नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध प्रथम ग्रन्थ है। और इस परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्यों में भामह, दण्डी, वामनादि

प्रमुख है। इन आचार्यों के ग्रन्थों का और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का समाश्रयण करके देशी और विदेशी विद्वनों ने विभिन्न भाषाओं में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र की सृजनात्मिका परम्परा में आर्ष तथा लौकिक दो धारायें उपलब्ध है। आर्ष धारा में बाल्मिकी, व्यास और भरतमुनि की गणना होती है। लौकिक कवियों की परम्परा में भासवामनादि प्रथिमान को प्राप्त है। उपर्युक्त आचार्यों द्वारा प्रारम्भ की गयी परम्परा भागीरथी की धारा को तरह आज भी अविच्छन्न रूप से प्रवहमान है। इस साहित्यशास्त्रीय परम्परा में वाल्मिकी और भरतमुनि के उपजीव्य बनाकर उत्तरवर्ती काव्य की दो धारायें प्रसूत हुयी है। वाल्मिकी लक्ष्य ग्रन्थ के रचयिता है। और भरत मुनि लक्षण ग्रन्थ के रचयिता है। इन दोनों ऋषियों के साथ–साथ व्यास महर्षि भी संस्कृतवाङ्मय के देदीप्यमान नक्षत्र है। लेकिन इनके वाङ्मय में दोनों विधाओं के दर्शन होते है। इसी उभयात्मिका परम्परा का आश्रय लेकर उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी रूचि के अनुसार दोनों विधाओं का सम्वर्धन और परिवर्धन किया है। इस काव्यनिर्माण की उभयात्मिका परम्परा में आदि कवि के गेयकाव्य रामायण के ही विशेष्यभूत या विशेषणीभूत विषयों का अवलम्बन किया गया है। क्योंकि कवियों द्वारा विवेचनीय या वर्णनीय समग्र विषयवस्तु विशेष्य विशेषण के रूप से रामायण महाकाव्य में उपलब्ध है। जिस प्रकार रत्न विक्रेता रत्न और उसके परीक्षणयन्त्र दोनों का क्रेता के समक्ष प्रदर्शन करके निष्कलुषता का परिचय देता है। उसी प्रकार आदि कवि ने भी रामायण काव्य को रत्न और उसके परीक्षणयन्त्र के रूप में उत्तरवर्ती आचार्यो के समक्ष प्रस्तुत किया है। समाज के उपस्करण के लिये प्रस्तुत काव्यग्रन्थ भारभूत न हो, अतः नियामकत्व के रूप में रामायण को निकषोपल कहा जा सकता है। जिसमें उत्तरवर्ती कवि अपनी कविताओं का परीक्षण करते है। वाल्मिकी रामायण हो या व्यासचरित पुराण अथवा भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र। इन तीनों ऋषियों की रचनाओं में रचनागत् बुद्धि का परिपाक अनुपम एवं अद्वितीय है। ऋषियों द्वारा परिपक्वमति से प्रणीत रचनाओं को सहज ही स्वीकार

नहीं किया गया। पहले उन्हें लोकमानस के लिये उपयोगी है कि नहीं। इस दृष्टि से आश्रम के वटुवों के माध्यम से या प्रवक्ताओं के माध्यम से ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। तथा इसके बाद राजदरबार और उसके राज्याश्रय प्राप्त विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इन सब की सहमति के अनन्तर सामान्य जनजीवन के लिये उपयोगी मानकर लोकजीवन को समर्पित किया गया है। यद्यपि वाल्मिकी और व्यास द्वारा रचित रचनाओ का लक्ष्यात्मक स्वरूप है। तथा इनकी रचनाओं के वैशिष्ट्य प्रतिपादक जो तत्व है। वहीं उत्तरवर्ती लक्षणग्रन्थ निर्माताओं के लिये आधार है।

प्रायः सभी आचार्य इस सन्दर्भ में एक मत हैं कि सहृदय ही काव्य की रचना कर सकता हैं, और सहृदय ही काव्य रस का आनन्द ले सकता है। आदि कवि वाल्मिकि भी सहृदयता के कारण क्रौंच पक्षी की मृत्यु और विलाप सुनकर शोक से अभिभूत होकर द्रवित हुये और कविता रचना में प्रवृत्त हुये। सम्भवतः इसी आख्यान से प्रभावित होकर भरतमुनि ने "विभानुभावसञ्चारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः" इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की है। काव्यानन्दस्य स्वरूपपरिचायकः और रस प्रस्थान के प्रतिष्ठापक अचार्य भरतमुनि उत्तरवर्ती कवियों कें शिक्षक है। जहाँ एक ओर हमें रामायण, महाभारतादि, वाल्मिकी और व्यास विरचित रचनाओं से वर्ण्यविषय उपलब्ध होता है। वहीं भरतमुनि की रचना से प्रयोगविज्ञान की प्रतीति होती है। रामायण, महाभारतादि का प्रयोगविज्ञान गौण तथा अपुष्ट है। विकीर्ण अवस्था में होकर अंग बन गया है। प्रतीतिपर्यवसायी काव्यों (साहित्य) के एक ओर वाल्मिकि और व्यास है तो दूसरी ओर प्रतीतिपर्यवसायी कविता के प्रयोगविज्ञान का आचार्यत्व भरतमुनि का अक्षुण्ण है। जहाँ वाल्मिकि ने अपने महाकाव्य को लव और कुश नामक दो अपने शिष्यों के माध्यम से ऋषियों और राम के राजदरबार में प्रस्तुत किया, वहीं व्यास ने अपने विशाल वाङ्मय को अपने पुत्र शुकदेव के माध्यम से अट्ठासी हजार ऋषियों के समक्ष प्रस्तुत किया। कविता के लक्ष्यात्मक स्वरूप की अनुभूति रामायणादि लक्ष्यग्रन्थों से होती है। उसके उत्कर्ष की प्रतीति का प्रतिपादक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है। काव्य के वैशिष्ट्य या लोकोत्तरत्व

के प्रतिष्ठापक तत्वों का अनुशीलन करके लक्षणग्रन्थों की रचना की गयी। नाट्यशास्त्र की रचना का आधार रामायण है। लेकिन परवर्ती लक्षणग्रन्थों में व्यास की रचनाओं का भी व्यापक प्रभाव है। आदिकवि ने अपने काव्य में राम के रूप में साकारता को प्राप्त ब्रह्म के वेद विहित गुणों का रामायण के रूप में उपनिबन्धन किया है। ईश्वर और उसके ऐश्वर्य तथा लोक और उसके ऐश्वर्य की काव्यात्मक उपस्थिति रामायण के रूप में इस सृष्टि की प्रथम कृति है।

रामायण काव्यात्मक रचना है। किसी भी वर्ण्य विषय में वर्णना वैचित्र्य के बिना उसे काव्य नहीं कहा जा सकता। रामायण की रचना के पूर्व कोई भी कथानक कविता के रूप में उपलब्ध नहीं है। अतः रामायण उत्तरवर्ती काव्य की समस्त धाराओं का स्रोत है। इसके साथ–साथ काव्य की समस्त विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों का भी इसे आधार माना जाता है। साहित्यशास्त्र में लक्ष्यग्रन्थों का लक्षणग्रन्थों की अपेक्षा प्रथम स्थान है। इन ग्रन्थों की रचनागत विधायें भी गद्यपद्य और चम्पू के भेद से तीन प्रकार की प्रथित है। इन तीनों विधओं में भी पद्यमय रचना अन्य का आधार मानी जाती है। काव्य रचना की प्रवृत्ति का परिष्फुरण संस्कार विशेष से ही होता है। व्युत्पत्ति और अभ्यास की सहकारिता होते हुये भी संस्कार के बिना उत्तम कविता का सृजन सम्भव नहीं है। इसे कवित्वबीजरूप शक्ति भी कहते है। इस शक्ति का परिष्फुरण सर्वप्रथम ब्रह्मा की अनुकम्पा से वाल्मिकि में देखा जाता है। जिन्होंनें प्रतिभा के परिष्फुरण के अनन्तर काव्यशैली में अपने प्रथम काव्य की रचना किया।

काव्यशैली के रचयिता आचार्यों में दूसरा स्थान व्यास ऋषि का है। जिन्होंने काव्यशैली में अट्ठारह पुराणों की रचना की। जिनमें से अग्निपुराण में काव्यशास्त्र की रचना से सम्बन्धित विविध अंगों तथा उपाङ्गों का निर्देश किया है। इसमें काव्य को व्यापार प्रवणता प्रधान बताया गया है। इसके बाद लौकिक कवियों की परम्परा प्रारम्भ होती है। जिनमें भास प्रथम हैं। इन्होनें लक्ष्यग्रन्थों का प्रणयन किया है। दूसरे आचार्य दण्डी हैं। जिन्होनें लक्ष्य और लक्षण दोनों परम्पराओं

में ग्रन्थों की रचना की है। दण्डी को गुणात्मवाद का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है। दण्डी का अनुगमन करते हुये वामन ने भी रीति को काव्य की आत्मा बताते हुये गुणों को काव्य की अत्तिशयता का हेतु माना है। इसके पूर्व भामह ने "भामह विवरण" नामक लक्षण ग्रन्थ की रचना की थी। लेकिन दण्डी की रचना काव्यादर्श को देश विदेश में जितनी ख्याति प्राप्त हुयी है। उतनी अन्य किसी लक्षण ग्रन्थ को प्राप्त नहीं हुयी। लेकिन जिस प्रकार भरतमुनि और व्यास महर्षि को काव्यशास्त्रीय विषयोवस्थापन हेुत रामायण, महाकाव्य लक्ष्य के रूप में प्राप्त था। दण्डी को भास और कालिदासादि आर्षेत्तर कवियों की रचनायें उपलब्ध थीं। भास से कविता कामिनी का उन्मेष होता है। और कालिदास की प्रतिभा से सम्पर्क होते ही उसका विलास सौंदर्य (यौवन) उल्लसित हो उठता है। यह काल कविता का स्वर्णकाल कहा जाता है। इन लक्ष्यग्रन्थों के रचयिता महाकवियों की कविताओं के निकषोपल के रूप में भामह का "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ उपलब्ध होता है। भामह का काल छठवीं शती का आरम्भिक काल माना जाता है। भामह का यह ग्रन्थ भरत और व्यास के बाद लौकिक कवियों में प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। काव्यात्मतत्त्व के प्रथम अनुशीलन का प्रारम्भ भी इसी ग्रन्थ से माना गया है। यह ग्रन्थ छः परिच्छेदों में विभक्त है। जिसमें काव्य शरीर, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय, शब्दशुद्धि आदि विषय मुख्यतया विवेचित है। भामह काव्यों में अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते है। अतः इन्हें अलंकारवादी माना जाता है। फिर भी इन्होंने काव्य का रसोन्मिश्रत्व स्वीकार किया है। रस ही काव्य को अन्य शास्त्रों से पृथक करता है। रस की प्रधानता के कारण ही काव्य अन्य शास्त्रों से अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। तथा सर्वजन सेव्य होते है। इस प्रकार परोक्षरूप में भामह भी काव्यरस की प्रधानता को स्वीकार करते है। जैसे शितशर्करा से सम्मिश्र कटुकौषधि भी सरलता से सेव्य हो जाता है। उसी प्रकार क्लिष्ट और दुर्मेध्य काव्य भी रस की प्रवणता के कारण सर्वजन ग्राह्य हो जाते है। भामह के मतानुसार शास्त्र भी काव्यरस से समन्वित होकर ग्राह्य एवं सर्वजन वेद्यत्व की पदवी को प्राप्त कर लेते

है। इनकें ग्रन्थों में काव्यरसोन्मेष, परिपुष्टिः और आप्लवन का सम्यक् विवेचन किया गया है। भामह के मतानुसार जो देखा जाय उसी से लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार काव्य में अन्य रसादि सामग्री के होते हुये भी अंलकार की प्रत्यक्षतया देखे जा सकते है। अतः अंलकार शास्त्र कहना उचित होगा। अथवा लोक में यद्यपि शरीर की सत्ता आत्मा से होती है। आत्मा प्राण या जीवस्वरूप है। उसके अभाव में शरीर चेष्टा (क्रिया) शून्य हो जाता है। गुणों का आधार भी जीव या आत्मा ही है। फिर भी लोकव्यवहार में आत्मा को प्रवृत्तिनिवृत्ति का हेतु न मान कर शरीर को ही माना जाता है। अर्थात् लोकव्यवहार स्वरूपतः व्यक्ति में ही आश्रित है। इसी प्रकार शब्द भी धर्म में रहकर धर्मी का ज्ञान कराते है। क्योंकि जो देखा जाता है, उसी से लोकव्यवहार साधित होता है। अतः काव्यों में रस, गुण, रीति, आदि के रहते हुये भी अलंकारों ही प्रत्यक्षतया प्रतीति होती है। अतः "काव्यशास्त्र", "अलंकारशास्त्र" नाम से व्यवहृत होना चाहिये। यहाँ पर यह भी ध्यानार्ह है कि "अंलकार" शब्द से अनित्य धर्मी अंलकारमात्र की प्रतीति न होकर काव्य के अलंकार्य्य का ही ज्ञान होता है। क्योंकि धर्म अथवा धर्मी किसी के भी प्रयोग से नित्यानित्य दोनों की सापेक्षता से प्रतीति होती है। अंलकार शब्द से अलम् उपपद "घञ" प्रत्ययान्त "कृ" धातु से सिद्ध क्रियाव्यापार की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार भामह के मत में अंलकार शब्द से क्रियाकल्प की प्रतीति होती है।

लक्षणग्रन्थ निर्माताओं में दूसरे आचार्य दण्डी है। इनका अंलकारशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यादर्श है। जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है। आङ उपसर्गक दृश धातु से निष्पन्न आदर्श शब्द भी काव्य की क्रियात्मकता का ही बोध कराता है। दण्डी स्वयं भी अपने ग्रन्थ की विषयवस्तु का परिचय देते हुये पूर्वशास्त्रों के संक्षिप्तीकरण एवं प्रयोग विज्ञान का समन्वित रूप ही प्रस्तुत किया गया बताते है।

१. पूर्वशास्त्राणि संक्षिप्य इत्यादि

दण्डी ने गुणों का विस्तृत विवेचन किया है। गुण धर्मी के

आश्रित होते हैं। अतः आश्रय की अपेक्षा रखने वाले गुण परम्परा सम्बन्ध से शब्द और अर्थ के आश्रयीभूत भी होते है। इसके पूर्व वामनाचार्य "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर "विशेषश्च गुणात्मा" की प्रतिष्ठापना करते है। वामनाचार्य सौशब्दारव्य सिद्धान्त की स्थापना करते हुये वताते है कि विवक्षितार्थ प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग कवि की प्रतिभा के वैलक्षण्य को प्रकाशित करता है। सौशब्द प्रयोग के बिना काव्य में रसवत्ता का अभाव रहता है। जिससे सहृदय की काव्यों के प्रति रूचि का अभाव होता है। सम्भवतः इसी कथन से प्रभावित होकर पण्डितराज महोदय ने सहृदय हृदयाल्हादक भावनाविषयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि व्यञ्जक वर्णों के संग्रथन से सहृदय की काव्य के प्रति रूचि उत्पन्न होती है। शब्द अर्थ का प्रकाशक है। अर्थ ज्ञान ही विषय ज्ञान है। उसके बिना लोक व्यवहार सिद्धि सम्भव नहीं है। यद्यपि आँखों से देखा बहुत जाता है और कानों से बहुत कुछ सुना जाता है। किन्तु मन का विराम अभिलषित या मनोहर वस्तुओं पर ही होता है। मन जिसमें रमता है वह वस्तु प्रत्यक्ष हो या परोक्ष मन स्वयं चित्र कल्पित करके आत्मसात् करता है। और इसके बाद निरन्तर उसका अनुशीलन करते हुये आनन्द प्राप्त करता है। इन सब के मूल में शब्द ही है।

अतः शब्द प्रयोग किया है। गुणधर्मी के आश्रित होते है। अतः आश्रय की अपेक्षा रखने वाले गुण परम्परा सम्बन्ध से शब्द और अर्थ के आश्रयीभूत होते है। इसके पूर्व वामनाचार्य "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर "विशेषश्च गुणात्मा" की प्रतिष्ठापना करते है। वामनाचार्य सौशब्दाख्य सिद्धान्त की स्थापना करते हुये बताते है कि विवक्षिताप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग कवि की प्रतिभा के वैलक्षण्य को प्रकाशित करता है। सौशब्द के प्रयोग के बिना काव्य में रसवत्ता का अभाव रहता है। जिससे सहृदय की काव्यों के प्रति रूचि का अभाव रहता है। सम्भवतः इसी कथन से प्रभावित होकर पण्डितराज महोदय ने सहृदयहृदयाल्हादक भावनाविषयार्थप्रतिपादक शब्द को काव्य रूप में स्वीकार किया है। क्योंकि व्यञ्जक वर्णों के संग्रथन से सहृदय की काव्य के प्रति रूचि उत्पन्न होती है। शब्द अर्थ का प्रकाशक है। अर्थ

ज्ञान ही विषय ज्ञान है।उसके बिना लोकव्यवहार सिद्धि सम्भव नहीं है। यद्यपि आँखों से बहुत देखा जाता है। तथा कानों से भी बहुत कुछ सुना जाता है। किन्तु मन का विराम अभिलषित या मनोहर वस्तुओं पर ही होता है। मन जिसमें रमता है वह वस्तु प्रत्यक्ष हो या परोक्ष मन स्वयं उसका चित्र कल्पित करके उसे आत्मसात् करता है। और इसके बाद निरन्तर उसका अनुशीलन करते हुये उससे आनन्द प्राप्त करता है। इन सब के मूल में शब्द ही है।

अतः शब्द प्रयोग को विशेष महत्व दिया गया है। दण्डी स्वयं कहते है– वाणी के प्रसाद से ही लोकयात्रा सम्भव होती है। दण्डी केवल लक्षणग्रन्थ रचयिता ही नहीं, अपितु लक्ष्यग्रन्थरचना में प्रतिष्ठा प्राप्त है। "दण्डिनः पदलालित्यं" यह दण्डिविषयक लोकोक्ति उनके गद्य काव्य दशकुमार चरित से अक्षरशः प्रमाणित है। सूक्ति से काव्य का आरम्भ दण्डी का नया प्रयोग है। भरतमुनि और महर्षि व्यास ने अपनी–अपनी रचनाओं में काव्य का आत्मस्थानीय रस को माना है। और उस रस की अनुभूति प्रबन्ध काव्यों में ही होती है। लेकिन सूक्तियों में रससन्निवेश और अर्थालंकारों के प्रयोग उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति देखने को मिलती है। अनुप्रास और यमक तो दण्डी के लेखनी के सहचर या अनुचर प्रतीत होते है। इस प्रकार गुणात्मवाद की स्थापना करके उसे काव्य की आत्मारूप में स्वीकार करते हुये अंलकारों की शोभादायकत्व निरूपित करके दण्डी काव्य जगत् की विविध परम्पराओं के उद्भावक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होते है।

कुन्तकः– कुन्तक वक्रोक्तिवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य है। वक्रोक्ति अंलकार है। जैसा लक्षणग्रन्थकारों ने बताया है। वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति व्रक्रोक्ति का वैलक्षण्य है। इस अंलकार के गर्भ में श्लेष की प्रधानता रहती है। वक्रोक्ति का लक्षण करते हुये "यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते" रूप बताया गया है। भामहाचार्य ने वक्रोक्ति को सभी अंलकारों का मूल माना है। अर्थ भेद से शब्द में भेद सभी शास्त्रों द्वारा अभिमत है। इसी प्रकार शब्दों को अनेकार्थक माना गया है। इस प्रकार शब्दाभिधेय भेद से एक ही

वाक्य में एक से अधिक अंलकारों की स्थिति हो सकती है। वक्रोक्ति सभी अलंकारों में अभिधेय और अनभिधेय अर्थों को विभावित करती है। अतः इसे सभी अंलकारों का बीज मानना तर्क संगत है। और इसीलिये इसे वक्रोक्ति को काव्यजीवितत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार सभी अंलकारों का आधारभूत वक्रोक्ति को स्वीकार करने पर तदनुरूप लक्षण की भी अपेक्षा होती है। क्योंकि इसके पूर्व भरत और व्यास द्वारा संदर्भित अलंकारों के स्वरूपनिर्देशन से सहमत न होते हुये भामहाचार्य ने– "वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा-- वाचामलंकृतिः" यह लक्षण किया है। यहाँ पर आचार्यो के मतों में परस्पर भेद को देखकर किसे न्यून माना जाय या किसे उत्कृष्ट माना जाय, जब यह समस्या उत्पन्न हो तो लौकिक न्याय का पक्ष लेना ही श्रेयस्कर होता है। लोक में – प्रत्येक प्राणी अपनी रूचि से जगत की वस्तुओं को ग्रहण करता है। मनुष्य प्राणियों में श्रेष्ठ है। उसमें परख भी होती है। उसकी रूचि उत्कृष्ट एवं प्राप्य भी होती है। अतः रूचि–भेद से मनुष्य सम्पूर्ण प्रकृति का उपभोग करता है। वाजारों में व्यवसायी अपनी रूचि के व्यवसाय में विक्रय हेतु मनोहर वस्तुयें आकर्षकरूप में सजा कर रखता है। प्रदर्शित वस्तुओं में क्रेता की रूचि का विशेष ध्यान दिया जाता है। देश कालादि के भेद से वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन रहता है। यही स्थिति सहृदयों या कवियों की होती है। कवि जहाँ अपनी रूचि की विधा पर काव्यरचना करता है। वहीं श्रोता या पाठक की रूचि और उपयोगिता का भी ध्यान रखता है। श्रोता में भी रूचिभिन्नता स्पष्ट है। किसी की रूचि शब्दांलकार अर्थालंकार वा शैलीमात्र में या रसविशेष में पृथक्–पृथक् देखने (अनुभव) में आती है। ऐसी परिस्थितियों में न तो वस्तु की न्यूनाधिकता कही जा सकती है। और न ही मूल्य निर्धारक की असमर्थता मानी जाती है। यह लोक का विकास क्रम है। अनवरत क्रमबद्ध चलने वाली इस प्रक्रिया को साहित्यशास्त्र का विकास क्रम कहा जायेगा। क्योंकि इसके बाद के आंलकारिकों ने भामह प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त को लेकर विभिन्न पक्षों को उद्भावित किया है। भामह ने "वक्राभिधेयं काव्यमिति" काव्य का लक्षण किया है। वक्रोक्ति अंलकार

में जेसी वक्राभिधेयता होती है, वैसी अन्यत्र अंलकारों में देखने को नहीं मिलती। क्योंकि सभी व्यंग्य वक्राभिधानरूप होते हैं। अतः वक्रोक्ति को मूलरूप से स्वीकार करने में कोई प्रतिबन्धकत्व नहीं है। कुछ लोक वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति में कोई भेद नहीं मानते। कोई लोग अन्याभिप्राय से वोले गये वाक्य में श्रोता को श्लेष या काकु के कारण जो अन्यार्थ की प्रतीति होती है। उसे वक्रोक्ति कहते है। इस प्रकार की उक्ति वैचित्र्य मात्र को भी वक्रोक्ति कहा जाता है। कुछ लोगों के मत में वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति में अन्तर्भाव की बात की जाती है। लेकिन यह उचित नहीं है। क्योंकि प्रकृत के द्वारा अन्य के निगीर्णन अतिशयोक्ति का स्वरूप माना गया है। कुछ लोगों के मत में रमणीयता का बीज रूप वक्रोक्ति और चमत्कारातिशय प्रतीति का मूल अतिशयोक्ति है। रमणीयता को पण्डितराज के मत में भावनापर–पर्याय अनुभवसाक्षिक जाति विशेष को माना गया है। चमत्कारानुभूति में सहृदयात की प्रधानता सभी ने स्वीकार की है।

उपयुर्क्त विवेचन से यह प्रश्न समक्ष उपस्थित होता है कि– भामह अंलकारों की प्रधानता स्वीकार करते है। दण्डी गुणात्मवाद की स्थापना करते है। इन दोनों के मध्य कौन पक्ष साधु है, और दोनों में क्या भेद है। और दोनों का शरीरमात्राश्रयी होने में क्या विशेषता है। उपयुर्क्त सभी बातों का विचार करके उत्तरवर्ती आचार्य वामन ने समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनके मत में – "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवश्चालंकाराः"। तथा "रीतिरात्माकाव्यस्य" कहा गया है। इसी प्रकार "विशिष्टपदरचनारीतिः", "विशेषश्च गुणात्मा", "सौंदर्यमलंकारः", इस प्रकार काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुये वामनाचार्य ने "गुणालंकारयुक्तौशब्दार्थौ काव्यम्"। इस प्रकार भामहाचार्य के मत में अलंकृति, दण्डी के मत में अतिशय, और वामन के मत में सौदंर्य को मानने पर इनमें परस्पर अविरूद्धत्व की ही प्रतीति होती है।

काव्यशास्त्र के इतिहास में व्यापार प्रधान काव्यों के वाह्य आभ्यन्तर स्वरूप के नियामक आचार्यों में आनन्दवर्धन युग प्रर्वतक

आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित है। आचार्य श्री ने अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ में व्यंग्यार्थ तथा व्यञ्जना व्यापार और उसके व्यञ्जक शब्दों को ध्वनि नाम देकर, उसे अनेकों प्रमाणों द्वारा प्रतिष्ठापित किया है। आनन्दवर्धन के मतानुसार ध्वनितत्व काव्य का अंगी है और अन्य रीति गुणालंकारादि उसके धर्म या अंग है।[1] अपने स्तम्भ वाक्य को आधार बनाकर उन्होंनें काव्य के भेदों और उनके साधक अंगों प्रत्यंगों का निरूपण किया है। इनके ग्रन्थ का नाम ध्वन्यालोक है तथा यह आनन्दवर्धन की मौलिक रचना है। इस ग्रन्थ का प्रभाव उत्तरवर्ती सभी लक्षण ग्रन्थकारों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। यहाँ तक कि राजशेखर पंडित राज जैसे मूर्धन्य विद्वानों में इनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुये[2] ध्वन्यालोक में प्रतिपादित काव्य विषयक सिद्धान्तों को प्रमाण्य रूप में प्रस्तुत किया है।

आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में समस्त काव्यांगों का निरूपण करने के साथ-साथ काव्य के आत्मभूत तत्व की स्थापना की है। "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति" प्रतिज्ञावाक्य की स्थापना के बाद समस्त काव्यविद् पूर्वाचार्यों की काव्यविषयक मान्यताओं और विप्रतिपत्तियों का खण्डन करते हुये अपनी विशिष्ट शैली में नवीन उद्भावना रूप ध्वनि तत्व की स्थापना की है। ध्वन्यालोककार द्वारा की गयी ध्वनितत्व की स्थापना कपोलकल्पित न हो कर तथ्यों और युक्ति प्रपञ्चों द्वारा साधित एवं समर्थित है।

ध्वन्यालोककार द्वारा स्थापित सरणी का अनुसरण करते हुये मम्मटाचार्य ने काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है। काव्यप्रकाश में ध्वनि और रस को अभिन्न रूप से स्थापित किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि यह ग्रन्थ अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित लोचन टीकाकार का सार है तो अत्युक्ति नहीं होगी।

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिः

२. ध्वनिनाति गभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ।।
ध्वनिकृतामालंकारिकसरणि व्यवस्थापकत्वात्।।

मम्मटाभिमत [redacted] काव्यस्वरूप

मम्मट और उनकी रचना काव्यप्रकाश, दोनों ही लोकविश्रुत है। वाक्‌देवतावतार महावैयाकरण, परमतान्त्रिक, के रूप में आदरणीय स्थान प्राप्त करने वालों की अवली में मम्मटभट्ट कनिष्ठिकाधिष्ठित है। श्रीमन्‌महामहेश्वर विभूषित मम्मट भट्‌ट परम शैव भी है। इसी प्रकार उनकी काव्य विषयक मान्यताओं का तथा सर्वमान्य त्रिकाल काव्यरश्मियों का आधारभूत रचनाग्रन्थ "काव्यप्रकाश" को लोक में महती प्रतिष्ठा प्राप्त है। यह आकर ग्रन्थ है। और काव्यग्रन्थों का प्रकाशपुञ्ज है। अपनी विलक्षण रचना शैली के कारण यह ग्रन्थ अवान्तर ग्रन्थों का संग्रह (संकलन) होते हुये भी मम्मटभट्टविरचित आकरग्रन्थ के रूप में विद्वानों में प्रतिष्ठित है।

लक्षणग्रन्थों की परम्परा में काव्यप्रकाश का महत्व आव्याहत है। यह ग्रन्थ मम्मट की अनुपम कृति है। किसी साधक द्वारा ही दार्शनिक पक्षों से ओत–प्रोत विलक्षण आलंकारिक ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। काशी सुमेरूपीठाधीश्वर परमगुरू श्री मन्महेश्वरानन्द जी का कथन था कि "मैंने सभी दर्शनों का अध्ययन करने के बाद काव्यप्रकाश का अध्ययन किया है। (पढ़ा है)। स्वामी जी का वैदुष्य काशी में प्रतिष्ठित है। उनके साक्षात् शिष्यों की तीन पीढ़ियाँ आज भी काशी में वर्तमान है। इसी क्रम में मेरे परम गुरू मीमासांशास्त्र निष्णात काव्यतत्वविद् पण्डित पी०एन० पट्टाभिराम शास्त्री जी विनोदभरी यथार्थता को अभिव्यक्त करते थे। उनका कथन था कि "मैं काव्यप्रकाश इतना जानता हूँ कि परीक्षा देकर अच्छें अंक प्राप्त कर लूँगा। वस्तुतः काव्य के प्रकाश से परिपूर्ण यह लक्षणग्रन्थ मम्मट को लोक में वाग्देवतावतार के रूप में विद्वानों के मध्य मूर्धाभिसिक्त करता है। यह ग्रन्थ केवल काव्य के लक्षण स्वरूप का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, अपितु लक्ष्यग्रन्थस्वरूप का भी प्रतिनिधित्व करता है। इसकी भाषा सौंदर्यशालिनी तथा प्रवाह और स्फूर्ति से परिपूर्ण है। जिसमें प्रतिपादनानुरूप सभी शैलियों के उपस्थापन की कुशलता का प्रकाशन होता है। सूत्रों में छंद्‌योजना तथा विषयानुरूप गुणात्मक पदों का

प्रयोग अद्‌भुत कार्य है। किसी आलोचक या भाषणकर्ता तथा आधुनिक हिन्दी शब्दकोशों की कुछ पंक्तियाँ सुनकर या पढ़ कर ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ को पढने की जिज्ञासा किसी के भी मन में उत्पन्न होती है। विषयसंयोजन तथा उपस्थापन का स्थूलक्रम ही अथ से (प्रारम्भ) लेकर इति तक आकांक्षादि प्रमाणों से पूर्ण एक वाक्य या महावाक्य स्वरूप, निरन्तर गतिशील तथा अध्येता की ग्राहकबुद्धि उन्मेष करने वाला है। आद्योपान्त परिव्याप्त काव्यात्मिका भाषा में रचनाप्रवाह ग्रन्थ की दुरूहता का भेदन करने के लिये प्रेरक वनता है। तथा उसकी दुरूहता का आभास नहीं होने देता। ग्रन्थ का विषयगाम्भीर्य भाषा की सरलता और सुबोधता के कारण अध्येता को विक्लव से बचाकर अन्तःप्रवेश के लिये उत्प्रेरित करता है। तथा उत्कण्ठा को जागृत करता है। प्रारम्भ से ही यह ग्रन्थ अध्येता में अपने वैशिष्ट्य की चमक बिखेरता है।

संज्ञा शब्द विचार–

काव्यस्य प्रकाशः इस षष्ठ्यन्त पद से ही विषय दर्शनरूप अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् कविकर्म रूप विषय का दर्शन या ज्ञान काव्यप्रकाश का अर्थ है। अथवा काव्यविषयक ज्ञान का साधनभूत ग्रन्थ का नाम काव्यप्रकाश है। इसी प्रकार उल्लास का अर्थ स्फुलिंग या किरण भी होता है। काव्यप्रकाश ग्रन्थ में दश उल्लास है। जिसमें काव्य के दशों अंगों का विवेचन है। मम्मट ने काव्य के दश उल्लासों में गुम्फित करके काव्य शब्द, उसकी अभिधामूल तथा लक्षणामूल व्यञ्जना, तथा आर्थीव्यञ्जना, उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद, दोष, गुण, और शब्दालंकार तथा अर्थालंकार रूप काव्य के दश अंगों का निरूपण करके काव्यपुरूष की स्थापना की है। अथवा काव्यजगत् की दश दिशाओं में परिव्याप्त होकर अपार काव्यसंसार में कवि प्रजापति के एकराट् साम्राज्य को प्रतिष्ठापित एवं प्रकाशित करने वाला ग्रन्थ काव्यप्रकाश है।[1] उसके प्रकाशन में अज्ञानरूपी मेघों का

१. लोक में शरीर के दश अंग, पाँच कार्मेन्द्रिय पाँच ज्ञानेन्द्रिय (दश गात्र) के रूप में प्रसिद्ध है, ऐसा भी माना जाता है कि ये दशों गात्र या अंग एकीभूत होते है तो शरीर का उद्भव होता है। इस प्रकार काव्यपुरूष की परिकल्पना सार्थक है, एवं मम्मटाभिमत है।

आक्रमण न हो कवि भारती की अधिष्ठात्री देवता का प्रथमवन्दन किया गया है। भारतीय वाङ्मय में सभी देवताओं के साथ जहाँ लोक का सम्बन्ध आराध्याराधकभाव सम्बन्ध है, वही सरस्वती बुद्धिस्वरूपा होकर साधक की आत्मा में अभिन्न होकर निवास करती है। सरस्वती का अधिष्ठान आत्मा होने के कारण ही उसे कवि भारतीरूप माना जाता है। इसीलिये उसे समुचित और इष्टरूप में श्रेय और प्रेय की प्राप्ति हेतु स्मरण (परामर्शन) किया जाता है। विना परामर्शन के अन्तस्थल में सरस्वती का उन्मेष सम्भव नहीं है। अन्य देवता पञ्चोपचार या षोडशोपचार से भले ही प्रसन्न हों, लेकिन सरस्वती परामर्शनमात्र से परामर्शक की आकांक्षापूर्ति करती है। सरस्वती के परामर्शन का ही परिणाम है कि कवि नियति के नियमों के विना अपेक्षा किये लोकोत्तर आनन्द से परिपूर्ण, उपादान सामग्री शून्य, नवरसरूचिर, हृदयावर्जिका, लोकजयशालिनी कविताकामिनी का सृजन करने में समर्थ होता है। कवि भारती परामर्शन से परिष्फुरित कविता कवि तथा सहृदय दोनों को षट्प्रयोजनों की उपलब्धि कराती है। मम्मट के मत में कविता स्वंयभू है। उसे कोई उद्भूत नहीं करता। तभी तो वह नियतिकृत नियमरहित है। आदि कवि महर्षि वाल्मिकी में उस कविता का इसी रूप में प्रथम साक्षात्कार हुआ था। स्वतः स्फूर्त, ज्योतिस्वरूप तथा अनुभवैकगम्य होने के कारण उसमें आल्हाद की पार्यान्तिक विश्रान्ति होती है। छन्दोमयी वाणी के उद्भूत होते ही कवि का वर्णनावैचित्र्य उल्लसित हो जाता है। और रसज्ञों को उस स्थिति तक ले जाता है, जहाँ आल्हाद का कोई अन्य प्रतियोगी तत्व नहीं होता। आल्हाद की यह अवस्था स्व–पर भेदशून्य ज्ञानात्मिका पार्यन्तिकी अनुभूति कही जाती है। जिसके प्रभाव में आते ही अनुभविता रामादिवदाचरण की प्रेरणा से ओतप्रोत हो जाता है। इसी को योगियों की सातिशयता शून्य स्वाभिन्नावस्था के रूप में जाना जाता है। इसीलिये उसे अनन्यपरतन्त्र कहा जाता है। यही काव्यरस से भिन्न लोक में उपलब्ध अन्य कोई रस या सुस्वादु वस्तु नहीं है। जिसका कि असीमित उपभोग किया जा सके। काव्यरस से भिन्न लोक की अन्य सभी आनन्दात्मक वस्तुयें परिणामतः दुःखदायी है।

जबकि काव्य प्रारम्भ से परिणतिपर्यन्त आल्हादात्मक है। इसीलिये सहृदय हजारों साल पुरानी घटनाओं का भी प्रत्यक्ष की तरह अनुभव करता है। तथा करूण, वीभत्स, भयानक घटनाप्रधान काव्यों में भी परमाल्हाद का आस्वाद प्राप्त करता है। आनन्द कवि की कविता का आश्रय प्राप्त करते ही देश, काल, परिस्थिति से सर्वथा मुक्त हो जाता है। काव्य का यही उर्वरस्वरूप मम्मट ने अपने ग्रन्थ में उपनिबद्ध किया है।

अन्त में मैं यह निवेदन करूँगा कि काव्यशास्त्र के अंगों, उपाङ्गों तथा उसके इतिहास या कालक्रम के सन्दर्भ में अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने अपनी अनुसंधानात्मक प्रतिभा के द्वारा प्रभूत सामग्री प्रस्तुत की है। अतः मम्मट या उसके काव्य या काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक संदर्भों का उपस्थापन पिष्टपेषण ही होगा। अतः उस दिशा में न बढ़कर यही कहूँगा कि प्रकाशपुञ्ज को दीप दिखाना स्वयं में ही उचित प्रतीत नहीं होता, न हीं मेरी सामर्थ्य है। आशा है कि यह व्याख्या छात्रों के लिये उपयोगी होगी।

॥श्रीः॥

प्रियंका संस्कृत ग्रन्थ माला

श्री मम्मटाचार्य विरचितः

काव्य प्रकाशः

हिन्दीव्याख्योपेतः

- व्याख्याकार -

डा० छोटेलाल त्रिपाठी

साहित्याचार्य, पी. एच. डी.

व० उपाचार्य

साहित्य विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

सुदर्शन बुक ऐजेन्सीज, वाराणसी

।। काव्यप्रकाशः ।।
"पथप्रदर्शिका"

प्रथमोल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति

ग्रन्थः— ग्रथनमिति ग्रन्थः— शब्दरचना। ग्रन्थ शब्द के प्रमुख लक्षणों में "सम्बन्ध प्रयोजनज्ञानाधीन सुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः" यह लक्षण जिस रचना में घटित हो उसे ग्रन्थ कहते हैं। अर्थात् सम्बन्ध शब्द का अर्थ बोधकता रूप सम्बन्ध या अभिधान (शब्द) का अभिधेय (अर्थ) के साथ सम्बन्ध। प्रयोजन—दुःखादि से निवृत्ति, अथवा लौकिकालौकिकैश्वर्य की प्राप्ति। ज्ञान—ग्रन्थ का विवेचनीय विषय और उसका प्रयोजन। सुश्रूषा श्रोतुमिच्छा अर्थात् ग्रन्थाध्येता की प्रवृत्ति। इस प्रकार के कारणों (प्रयोजनों) से युक्त किसी भी रचना को ग्रन्थ कहते हैं। इसी प्रकार "पञ्चाङ्गकं वाक्यं ग्रन्थः"। लक्षणम्—विषयो: विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गशास्त्रेऽधिकरणं विदुः। अथवा "आम्नास्यमानविषयं महावाक्यं ग्रन्थः" आदि लक्षण भी आचार्यों ने किये हैं। आरम्भे—आरभ्यतेऽस्मिनिति, व्युत्पत्ति के अनुसार ग्रन्थ रचना का पूर्वक्षण ही अपेक्षित है। और प्रायः सभी आचार्यों ने इस प्रक्रिया को स्वीकार किया है। आरम्भ शब्द का पृथक रूप से कोई लक्षण प्राप्त नहीं होता है। लेकिन दशरूपककार ने अवस्था निरूपण के समय जो आरम्भ का लक्षण किया है उसे यहाँ पर भी वैज्ञानिक सम्बन्ध से स्वीकार किया जा सकता है। जैसे—"औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे"। अर्थात् अव्याहत ग्रन्थरचनाप्रवृत्तिमूलक उत्कण्ठा का उदय ही आरम्भ माना जा सकता है। निर्दिष्ट काव्यफलों की प्राप्तेच्छा से प्रेरित काव्यरचनारूप अभिलाषा का उदय ही आरम्भ है। और यह आरम्भ मंगलाचरण का हेतु है। अतः "आरम्भे" इस सप्तम्यन्त पद का यहाँ प्रयोग किया

गया है। **विघ्नविघाताय**—विघ्नों के विनाश के लिए। विघ्न दो प्रकार के होते हैं, दृष्ट और अदृष्ट। दृष्ट विघ्न प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। इनका किसी प्रकार शमन किया जा सकता है। लेकिन अदृष्ट (इन्द्रियातीत विघ्न लौकिक सामर्थ्य से हटाये नहीं जा सकते) उनके शमन के लिए अदृष्ट सामर्थ्य अपेक्षित है। अतः कर्मरूप में इस वाक्य में उपस्थित उभयविघ्न काव्यरचनानुकूल व्यापार में प्रतिबन्धक होने के फलस्वरूप उसी व्यापार विशेष में उसका विघात अदृष्ट है। यहाँ पर "वि" उपसर्गक "हन" धातु से निष्पन्न होने वाले दोनों पद कार्य विशेष में ही अन्वित होते हैं। अतः कार्य विशेष के आपतित होने वाले विघ्नविशेष का ही विघात अपेक्षित है, सभी विघ्नों का नहीं। कार्य विशेष के विघ्नों के विनाश हेतु कार्यानुकूल देवता ही समर्थ होता है। अतः "समुचितेष्ट" पद प्रयुक्त किया गया है। आचार्यों ने मंगलाचरण का फल वक्ता और श्रोता दोनों के लिए अभीष्ट माना है। इसीलिए "विघाताय" पद में "तादर्थ्ये—चतुर्थी" इस सूत्र से चतुर्थी विभक्ति की गई है। जिससे मंगलाचरण में सन्निहित महाभाष्यकारादि सम्मत सभी पक्षों (उद्देश्यों) की प्राप्ति हो जाती है। "समुचितेष्टदेवतां परामृशति"। ग्रन्थरचनानुकूल, अर्थात् काव्यरचनानुकूल तथा ग्रन्थकार की आराध्य देवता वाग्देवी का स्तवन ग्रन्थकार कर रहा है। इस प्रकार अवतरण वाक्य में ग्रन्थारम्भ हेतु, विघ्नविघात फल, समुचितेष्टदेवता कर्म, मम्मटकर्तृक अर्थात् मम्मट द्वारा किया गया देवताराधनरूप व्यापारविशेष बोधित होता है। विशेष—इस अवतरणिका को आधार मान कर विद्वानों ने "ग्रन्थारम्भे—ग्रन्थकृत्" इन दोनों पदों के आधार पर जो शंका उद्भृत की है वह निर्मूल है। क्योंकि "प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्ते स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति" मनु०—१.४— के अनुसार इसे शैली विशेष ही माना जाना चाहिए।

मंगलाचरणम् ,

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।१।।

नियतिशक्त्या नियतिरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपा दानकर्मादि–सहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः, तःदृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम्। एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते।।

नियतिकृतनियम– नियतिः–विधिः जगत का नियन्त्रण करने वाली वह अदृष्ट शक्ति जिससे यह संसार नियंत्रित है। अर्थात् इस लोक में प्राप्त सभी पदार्थों के धर्म (लक्षण) निर्धारित है। उनमें कभी व्यवधान नहीं हो सकता। कमल की सुगन्ध कुन्द में नहीं हों सकती। लताओं की उत्पत्ति पर्वत में ही हो सकती है। समुद्र में गम्भीरता, पर्वतों में ऊँचाई, चन्द्रमा में अमृत सिद्ध है। ये सब नियति द्वारा बनाये गये नियमों के अधीन है। इसके ठीक विपरीत नायिका के नेत्र कमल, दाँतों में कुन्द की कलिकाओं की धवलिमा तथा सौन्दर्य, अधरों में सुधारस, नायिका में कनकलता का अनुभव और उस कनकलता में दो उन्नत स्तनशिखरों में पर्वत शिखर की कल्पना, नेत्रों की गम्भीरता, अनिवर्चनीय सौन्दर्य यह सब उस विधिनियम का अभाव होता है। अर्थात् काव्य विधि के प्रतिबन्धक नियमों से परे होता है। काव्य निर्माण कविभारती से होता है। कविभारती वाग्देवी है। अतः कविभारती की विशेषता बताने वाला पहला विशेषण "नियतिकृत नियमरहितां" दिया है। दूसरा विशेषण कविभारती का "ह्लादैकमयी" है। इसका अर्थ आनन्दापरपर्याया है। ईश्वर की रचना इस जगत में सुख, दुःख और मोह तीनों की समयानुसार मनुष्य मात्र को अनुभूति होती है। अर्थात् सुख दुःखादि के कारण भिन्न हैं। और उन भिन्न–भिन्न कारणों से भिन्न–भिन्न सुखादि की अनुभूति होती है। लेकिन काव्य में किसी सुख दुःखादि की अवस्था का वर्णन होने पर भी काव्याध्ययनकर्ता को आनन्द ही प्राप्त होता है। इसीलिए कविभारती को केवल आनन्दमयी कहा गया है। रामायणादि काव्यों में रामवनगमन, दशरथमरण, सीताहरणादि प्रसङ्गो को पढ़कर आनन्दाश्रु प्रवाह होता है। यदि काव्यों के ऐसे प्रसङ्गो में आनन्द प्राप्ति न हो तो किसी की प्रवृत्ति नही हो सकती है। अतः काव्य में आनन्दात्मिका स्थिति ही

होती है। **"अनन्यपरतन्त्राम्"** अन्याधीनत्वरहिताम्। सृष्टि रचना में पञ्चमहाभूतों का कारणत्व सिद्ध है। किसी भी वस्तु की उत्पत्ति समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारणाधीन होती है। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। जगत् की उत्पत्ति में पञ्चमहाभूतादि या माया, ईश्वर कारण है। स्वतन्त्र रूप से बिना माया का आश्रय लिए ईश्वर जगत का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए जगत की रचना पञ्चमहाभूत या समवाय्यादि परतन्त्र है। यहाँ पर परतन्त्र शब्द पराधीन अर्थ का बोधक है। अतः अनन्य और परतन्त्र में पुनरुक्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए। काव्यपक्ष में–काव्यनिर्माण कविप्रतिभाधीन होने के कारण अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखता। अतः वह सर्वतन्त्र स्वतंत्र है। **नवरसरूचिराम्**–नवसंख्याकैः रसैः हृदयावर्जिकां मनोहरिर्णीं वेति। नवनवोन्मेंषशालिनी। नव रसों से प्रकाशित, आनन्द प्रदान करने वाली। लोक में छः रस ही प्रसिद्ध है। जैसे कि न्यायशास्त्र में बताया गया है। वह रस हैं– मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कसाय, तिक्त। ये सभी रस सबको समान रूप से प्रिय नहीं होते। इनमें से कुछ तो सर्वथा त्याज्य होते हैं। लेकिन काव्य के नवो रस आनन्द प्रदान करते हैं। और वह संख्या में भी अधिक होते है। यहाँ पर कवि ने रूचिर शब्द का प्रयोग किया है। जिसका मनोहर तथा रूचिं राति–ददाति अर्थात् कान्ति प्रदान करना भी अर्थ होता है। अतः काव्य नव रसों से प्रकाशित है, आनन्द प्रदान करता है। तथा आकर्षित करता है। एवं पूर्वोक्त चार प्रकार की विशेषताओं से युक्त रचना को "आदधती" प्रकाशित करने वाली कविभारती अर्थात कवि की वाणी की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ। वह सरस्वती मेरे रचना व्यापार में आने वाले विघ्नों को दूर करके ग्रन्थ को पूर्ण कराये।

इस मंगल पद्य में उपमानोपमेय सम्बन्ध द्वारा ईश्वर की रचना की अपेक्षा कवि की रचना में उत्कृष्टता बताई गयी है। इश्वर की रचना उपमान है। कवि की रचना उपमेय है। ईश्वर की रचना में चार प्रकार की प्रतिबद्धताएं है, जिन्हें ऊपर बताया जा चुका है। और उन चारों प्रतिबद्धताओं का उल्लघन नहीं किया जा सकता। लेकिन–

अपारे काव्य संसारे कविरेकःप्रजापतिः।

यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं प्रतिपद्यते।। (तथैव परिर्वतते)

(अग्निपुराण)

इस प्रसिद्धि के अनुसार कवि सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होता है। उसकी रचना में ईश्वर की रचना के नियम लागू नहीं होते।

मंगल पद्यों के प्रमुख विचारणीय विषयः–

(क) मंगलकर्म प्रायः तीन प्रकार के होते है।

१. नित्य २. नैमित्तिक ३. काम्य

"अविगीतशिष्टाचारविषयत्वेन" इस न्याय के अनुसार आचारपरम्परा का पालन नित्य–नियमित करणीयता को सूचित करता है। ग्रन्थारम्भनिमित्तक होने से नैमित्तिक तथा वक्ता और श्रोता दोनों के कल्याण की कामना सन्निहित रहती है। अतः काम्य भी कहा जा सकता है।

(ख) मंगलाचरण तीन प्रकार का होता है–

१. आशीर्वादात्मक

२. स्तुत्यात्मक अथवा नमस्कारात्मक

३. वस्तुनिर्देशात्मक

प्रस्तुत पद्य में "कविभारती" का शब्दतः उल्लेख होने से कविकर्मरूप काव्य विषयक वस्तु का ज्ञान होता है। इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ में "तां प्रत्यस्मि प्रणतः", "नमस्कार अक्षिप्यत" कथन से नमस्कारात्मकता प्रतीत होती है। देवता की प्रसन्नता से वक्ता–श्रोता दोनों का कल्याण होता है। तथा अधिक के रहने पर अनुषङ्गतः अल्प को माना जाता है। तृतीय की भी उपस्थिति मानते हुए इस मंगलपद्य को त्रिविधात्मक माना जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

मंगलपद्यों में ध्वनितत्व का विचार भी आवश्यक होता है। ध्वनि

के तीन भेद माने गये हैं। रस, वस्तु, अलंकार। तीनों ध्वनियों के पृथक–पृथक लक्षण है। जिनका परिज्ञान आगे कराया गया है। प्रस्तुत पद्य में कविभारती रूप सरस्वती का स्तवन किया गया है। "रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः" इस लक्षण के अनुसार कवि के हृदय में देवता विषयिणी रति (भक्ति) होने के फलस्वरूप यहाँ भावध्वनि है। भावादि ध्वनियों का रसध्वनि में अन्ततः अन्तर्भाव होता है। अतः पद्य में रसध्वनि सिद्ध है। "उपमानात् यदन्यस्य व्यतिरेको स एव सः" इस लक्षण के अनुसार उपमेयभूत कवि भारती की उत्कृष्टता तथा उपमानभूत ईश्वर की रचना की अनुत्कृष्टता वर्णित होने के कारण व्यतिरेकालंकारध्वनि सिद्ध होती है। उपयुर्क्त दोनों ध्वनियों से भिन्न तीसरी वस्तु ध्वनि है। मंगलपद्य से कथात्मकता की अर्थात् वर्ण्यविषय की प्रतीति हो तो वस्तु ध्वनि कहते है। यहाँ पर कवि कविभारती का स्तवन कर रहा है। "भारती" शब्द वाणी और सरस्वती दोनों का वाचक है। यहाँ पर कवि वाणी और उसकी देवता दोनों प्रणम्य हैं। अतः स्वतः ही कविवाणी के वर्ण्यविषय का ज्ञान होता है। अवतरणिका में समुचित शब्द के प्रयोग से भी प्रतिपाद्यविषयानुकूलत्व का ज्ञान होने से विषय वस्तु की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पद्य में तीनों ध्वनियों का समावेश है।

यहाँ पर मंगलपद्य में व्यतिरेक मुख से बताये गये कविभारती के चारों विशेषणों में प्रथम विशेषण "नियतिकृतनियमरहितां" है। जिसका अर्थ पूर्व में बताया गया है। तथापि कवियों के भी अपने नियम और परम्पराएं हैं। जिनका उल्लघन काव्य दोष माना गया है। जिसका निरूपण सप्तम उल्लास में "दोषनिरूपण" के अवसर पर किया गया है। अतः "नियतिकृतनियरहितां" का "कविसमयनियन्त्रितां" अर्थात् कवि सम्प्रदाय के नियमों से कवि भारती नियन्त्रित है।

"ह्लादैकमयीं"– लोक में चन्दनादि, सुखकर, गंगाजलादि पवित्रतम्– तथा मिष्ठानादि मधुर पदार्थ काल विशेष में अग्राह्य तथा दुःखजनक होते हैं। शीतबाधादि से पीड़ित व्यक्ति को चन्दनादि लेप भी कष्टप्रद ही होते हैं। लेकिन काव्य शत्रु द्वारा रचित होने पर भी

आनन्द प्रदान करता है। इसीलिए स्वार्थेमयटप्रत्यय़ान्त ह्लाद ही एक मात्र कवि भारती का स्वरूप माना गया है।

"अनन्यपरतन्त्राम्"— अनन्या काव्याभिन्नाप्रतिभा तदधीनाम्। अर्थात अनन्याप्रतिभा को भी कहा जाता है। अतः प्रतिभा द्वारा निष्पन्न शब्दाधीन है। शब्द का ही कारणत्वादि अभीष्ठ है। अर्थात् प्रतिभोत्पन्न शब्द ही कारण है। स्थूल जगत की कारणता की अपेक्षा नही है। इस वाक्य में "अन्य" और "पर" शब्द को लेकर पुनरूक्ति की भी आशंका व्यक्त की जाती है जो कि सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि "परतन्त्रः पराधीनः परवान नाथवानऽपि" इस कोष के अनुसार परतन्त्र एक रूढ़ शब्द है। उसका अर्थ पराधीन है।

"नवरसरूचिराम्"— वृत्तिग्रन्थ में "नच हृद्यैव तैः" इस कथन से व्यतिरेक द्वारा स्पष्टतया "तैः नवरसैःहृद्यैव" अर्थात षड़रसों से युक्त विधि की रचना सुखस्वरूप मात्र नहीं है। किन्तु इसके ठीक विपरीत कवि की निर्मिति नवरसों से रूचिर मनोहारिणी होने के कारण अथवा रूचिं राति (प्रकाशं ददाति) व्युत्पत्ति के अनुसार तृतीया तत्पुरूष समास माना जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त चार प्रकार की विलक्षणताओं से परिपूर्ण निर्मिति—सृजन, रचना को प्रकाशित करने वाली कविवाणी अथवा अधिकृत देवता सरस्वती को प्रणाम करत़ा हूँ।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य नमन्दोऽपि वर्तते" इस न्याय के अनुसार जब तक किसी कार्य की फलवत्ता का ज्ञान नहीं होता है, अर्थात् इस कार्य से हमें यह फल प्राप्त होगा। जब तक इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती तब कार्य के प्रति हमारी रूचि या प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार काव्य में लोगों की प्रवृत्ति हो इसलिए उसके प्रयोजनों (इष्टसाधनता) का ज्ञान कराना आवश्यक जानकर कवि काव्य के प्रयोजनों का निरूपण कर रहें है.।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे।। २ ।।

कालिदासादीनामिव यशः। श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्। राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्। आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्। सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।।

प्रयोजनः– प्रयोजन निरूपण से पूर्व अवतरणिका मे "इहामिधेयं सप्रयोजनमाह" कहा गया है। "इह" अर्थात ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलचरण के अनन्तर ग्रन्थारम्भ के पूर्व। **अभिधेयम्**– ग्रन्थलक्षण के अनुसार किसी भी न्याय, व्याकरणादि, शास्त्र की संरचना को ग्रन्थ कहते है। प्रत्येक ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भिन्न–भिन्न होता है। प्रकृत में मम्मट विरचित ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है। और उस विषय से किन प्रयोजनों की उपलब्धि होगी यह बताने के लिए सप्रयोजनान्त वाक्य प्रयुक्त है। एवं ग्रन्थ का अभिधेय या प्रतिपाद्य विषय काव्य है। और उस काव्य के प्रयोजन यशः प्रभृति हैं। काव्य ही प्रतिपाद्य क्यों! ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उसमें (काव्य में) सद्यः–तत्काल–काव्य पठन श्रवण समकाल ही आनन्दप्राप्त्यादि फल प्राप्ति हेतु हैं जो अन्य प्रतिपाद्य विषयों में नहीं है।

काव्यम्–अभिधेयम्–प्रतिपाद्यम्। अर्थात् ग्रन्थ का अभिधेय काव्य है। और उसके प्रयोजन यशः प्रभृति है। प्रयोजनों की संख्या छः है। सभी चतुर्थ्यन्त पद है। यद्यपि अन्य शास्त्रों के द्वारा प्रयोजनों की प्राप्ति होती है। लेकिन वह प्रयोजन चार हैं। और उसकी प्राप्ति भी इहलोक तथा परलोक में विभाजित है। लेकिन "तादर्थ्येचतुर्थी" इस नियम के अनुसार प्रयुक्त चतुर्थ्यन्त पद तत्काल फल प्राप्ति को सूचित करते हैं।

यशसे– कालिदासादि महाकवि यशः शरीर से आज भी स्मृति पटल पर वर्तमान है। उनके काव्यों के कारण उन्हें समाज में आदर एवं अग्रगण्यता प्राप्त है। अतः उक्त महाकवियों की तरह यशः प्राप्ति के लिए काव्य का अभिधान होता है।

अर्थकृते– अर्थप्राप्ति के लिए। काव्य से अर्थ (धन) प्राप्त होता है। जैसे धावक नामक कवि ने "रत्नावली" ग्रन्थ (काव्य) लिखकर उसे श्री हर्ष नामक राजा को समर्पित किया। और बदले में प्रभूत धन प्राप्त किया।

व्यवहारविदे– लोकव्यवहार अर्थात् भिन्न–भिन्न व्यक्तियों और परिस्थितियों में किये जाने वाले व्यवहार का ज्ञान काव्य से होता है। काव्यों के लक्षणों के अनुसार उसमें विभिन्न स्तर के व्यक्तियों (पात्रों)–घटनाओं तथा प्रसङ्गो का वर्णन होता है। तथा विभिन्न प्रकार की जीवनोपयोगी वस्तुओं का भी वर्णन होता है। काव्य के द्वारा हमें दैनन्दिन जीवन में अपनी दिनचर्या तथा स्थान विशेष एवं व्यक्तिविशेष या सामूहिक रूप से किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, इसकी जानकारी काव्य से होती है।

शिवेतरक्षतये– शिव–कल्याण, उससे इतर–भिन्न अकल्याण–अमगंल की क्षति विनाश के लिए। यद्यपि "सर्वेगुणाःकाञ्चनमाश्रयन्ति" इस कथन के अनुसार धन ही कल्याण मूलक है। लेकिन इस चतुर्थ प्रयोजन का उद्देश्य दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्ति प्राप्त करना है। जैसा कि वृत्तिग्रन्थ "आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्" से ज्ञात होता है। मयूर कवि को कुष्ठ रोग कतिपय कारणों से हो गया था। जिसके समन के लिए उन्होंनें सूर्य भगवान का स्तवन किया और रोग से मुक्त हो गये। अतः रोग आदि शारीरिक, मानसिक तापों से मुक्ति के लिए काव्य का सेवन करना चाहिये।

सद्यःपरनिर्वृतये–सद्यः तत्कालमेव– अर्थात काव्य पठ्न, श्रवण के समय ही नव रसों से रुचिर होने के कारण अध्येता को काव्यरसानुभूति होती है। रस आनन्दात्मक है। अतः आनन्दविभोर

होकर अध्येता इन्द्रियजनित विषयों से निवृत्त होकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। जैसा कि वृत्ति ग्रन्थ में कहा गया है। यथा–सभी पूर्वोक्त प्रयोजनों में प्रधानभूत रसानुभव से उत्पन्न सुखात्मिका वृत्ति के प्रभाव से इन्द्रियजनित ज्ञान के विगलित अर्थात क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आनन्द मात्र का अनुभव होता है। यह आनन्द स्वप्रकाशस्वरूप ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित होता है। लोक में घर विषयक ज्ञान में विषय घर एवं विषयी ज्ञान भेद की प्रतीती होती है। किन्तु काव्यगत आनन्द विषय और विषयी के भेद से सर्वथा भिन्न या भेद रहित होता है। यह आनन्द ब्रह्मानन्द कल्प है। आनन्द की प्राप्ति तो वेदशास्त्रादि से भी होती है। फिर काव्य की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान करते हुए मम्मटाचार्य शास्त्रों और इतिहास पुराणों कों शब्द प्रधानता और अर्थ तात्पर्यवत्ता मात्र में पर्यवसित बताकर काव्य की व्यञ्जनाव्यापाररूप विलक्षणता को प्रतिष्ठापित करते है।

शब्द तीन प्रकार का होता है–

१. प्रभुसम्मित

२. सुहृत्सम्मित

३. कान्तासम्मित

प्रभुसम्मित वेद, शास्त्र, उपनिषदादि आते हैं। जिनमें नित्यनैमित्तिक कर्मप्रवृत्ति का निर्देश है। सत्य बोलें, धर्म से चले, नित्य संध्यावंदनादि करें। यह वेदादि का निर्देश है। जैसे राजा या स्वामी अपने अनुगामी को कार्य का निर्देश करता है, लेकिन उसके फलादि के विषय में मौन रहता है।

दूसरी श्रेणी अष्टादशपुराणों, इतिवृत्त (इतिहास) विषयक ग्रन्थों की आती है। जैसे मित्र अपने मित्र को किसी भी कार्य के गुण–दोष बताकर उसे सद् और असत् से प्रवृत्त निवृत्त करता है। उसी प्रकार इतिहास पुराण अर्थ तात्पर्य को बताते है। अर्थात यह कार्य करने से यह फल प्राप्त होगा। इस प्रकार का उपदेश करते हैं। कुछ लोगों

के मत में शब्द प्राधान्य का अर्थ "शब्दपरिवृत्यसहत्व" है। जैसे वेदों में जो शब्द प्रयुक्त हैं वही वेद है। उनमें परिवर्तन कर देने से दूसरे शब्द उसी अर्थ का बोध कराने पर भी वेद नहीं कहे जा सकते। लेकिन इतिहास पुराण तात्पर्य प्रधान होते हैं। इनमें शब्द परिवर्तन सम्भव है। केवल उसी अर्थ की प्रतीति होनी है। अर्थात पुराणों आदि में तात्पर्य आदि की प्रधानता रहती है। उपयुर्क्त दोनों प्रकार की शब्दार्थ प्रधानता से भिन्न रस के अंगभूत (उपायभूत) व्यापार–व्यञ्जना व्यापार की प्रधानता से विलक्षणता को प्राप्त ऐसा काव्य जिसे अलौकिक वर्णन वैचित्र्य समन्वित कवि कर्म कहते हैं। जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अप्रधान या गुणीभूत होते हैं। ऐसे काव्य के द्वारा अर्थात् अध्ययन श्रवण से चित्रवृत्तियाँ रससिक्त होकर काव्यानुकूल हो जाती हैं। और इस काव्यानन्द प्रवाह से हठात् व्यक्ति कान्ता सम्मितोपदेशतुल्य काव्योपदेश से प्रभावित होकर रामादिवत्–अर्थात् सदाचरण में प्रवृत्त होता है। कान्तासम्मितोदेश का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी अनुचित मार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति को उस मार्ग से विरत करने के लिए उसकी चतुर नायिका पहले अपने विलक्षण तथा आनन्द प्रदान करने वाले हाव–भाव से अपने प्रिय को अपने अनुकूल बनाती है। और उसके बाद उसको कुपथ से निवृत्त होने के लिए प्रेरित करती है। उसी प्रकार काव्य भी सरसता को उत्पन्न कर पहले व्यक्ति को सुहृद बनाता है। और उसके बाद सन्मार्ग में प्रवृत्ति का उपदेश प्रदान करता है।

"यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति"

सामान्यतया कारिकोक्त प्रयोजनों का दो वर्ग बनाकर प्रथम वर्ग में यशः प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति और अनर्थ निवारण को रखा गया है। तथा ये तीनों कवि के लिए निर्धारित किये गये हैं। दूसरे वर्ग में व्यवहार ज्ञान, सद्यपरनिर्वृति तथा कान्तासम्मितोपदेश हैं, तथा इन्हें सहृदय के लिए बताया गया है। लेकिन प्रत्येक प्रयोजन चतुर्थ्यन्त पद से पृथक–पृथक निर्दिष्ट करके वृत्ति ग्रन्थ में निरूपित करते हुए "च" पद से पुनः सभी प्रयोजनों को सनुच्चित अर्थात् एक साथ लाकर

"यथायोग" द्वारा कवि और सहृदय के लिए उपदेश करता है। इस प्रकार काव्यप्रयोजनों का उपदेश करता है। यथायोग शब्द का दोनों कवि तथा सहृदय के साथ अन्वय करने से जो भी कवि या सहृदय जिस प्रयोजन की प्राप्ति हेतु प्रयोजनानुकूल काव्य में यत्न करता है। उसे "क्रियाभेदात्फलभेदः" नियम् के अनुसार फल की प्राप्ति होती है। अन्यथा स्तोत्र काव्यों आदि में शिवेतरक्षति हेतु लोगों की प्रवृत्ति नहीं होगी। राजकुमारादिकों को काव्योपदेश रामादिवदाचरण हेतु अर्थात् सदसद् ज्ञान के लिए ही प्रधानतया अपेक्षित होता है। और भी कविता का कारण निरूपण करते समय महाकवियों के काव्यों का विमर्शन निपुणता के हेतु रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार यथायोग प्रत्येक प्रयोजन के साथ अन्वित प्रतीत होता है।

काव्यकारणनिरूपण—एवं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मरूप काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करने के अनन्तर, क्या इस प्रकार के विलक्षण काव्य का समुद्भव सम्भव है ? इस समाधान हेतु काव्य के कारण या बीज का निरूपण करते है।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह –

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। ३।।

शक्तिः कवित्वबीजरूप संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादि–लक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकवि सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करण योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।

यथा– "**शक्तिर्निपुणताभ्यासश्चेति तस्य हेतुः**" अर्थात् शक्ति,

निपुणता और अभ्यास तीनों मिलकर विलक्षण काव्य के प्रति हेतु हैं। यहाँ शक्ति का अर्थ संस्कार है। निपुणता व्युत्पत्तिरूप है। अभ्यास प्रवृत्ति रूप है। आचार्यों ने दो प्रकार के कारण स्वरूप माने है। जिनसे कि कार्य काव्य की उत्पत्ति होती है। जहाँ पर विभिन्न अवयव मिलकर एक ही कार्य को उत्पन्न करते है वहाँ पर वह सभी अवयव एक ही कार्य के प्रति एक ही कारण माने जाते हैं। इसी प्रक्रिया को दण्डचक्रचीवरन्याय कहा जाता है। कुम्भकार को मिट्टी से घड़ा निर्माण हेतु दण्ड चक्र और चीवर (वस्त्र) की आवश्यकता होती है। इन तीनों में से किसी एक या दो के न रहने पर भी कार्य (घट निर्माण) सम्भव नही है।

अतः उक्त तीनों को घट निर्माण में हेतु माना जाता है। अर्थात् तीनों मिलकर एक कारण रूप बन कर घटरूप कार्य को सम्पन्न करते हैं। दूसरी ओर आग जलाने के लिए जितने साधन हैं, उन सभी को एकत्रित नहीं होना पड़ता। अतः किसी एक साधन से भी अन्य के न रहने पर आग उत्पन्न हो जायेगी। इसी को तृणारणिमणिन्याय कहते है। तृण से आग उत्पन्न होती हैं। मणि और अरणि से भी आग उत्पन्न होती है।

लेकिन दोनों आग के प्रति पृथक–पृथक कारण हैं। उन्हें हेतुओं के रूप में कहा जाता है। "हेतुः" का अर्थ मिल कर एक कारण बनना और हेतवः का अर्थ है पृथक–पृथक अर्थात् स्वतंत्र होकर कारण बनना। मम्मटाचार्य दण्डचक्रचीवरन्याय से काव्य कारण को स्वीकार करते हैं। इसीलिए "इतिहेतुस्तदुद्भवे" का उन्होंने प्रयोग किया है। इस प्रकार शक्तिर्निपुणता और अभ्यास मिलकर काव्य के कारण हैं। शक्ति संस्कार रूप है। पूर्वजन्म में किये गये कर्मफल रूप है। निपुणता और अभ्यास लोक साध्य है। अर्थात् उनकी प्राप्ति हेतु लौकिक साधनों की अपेक्षा होती है। इस प्रकार प्रारब्ध और इस जन्म में किये गये परिश्रम से विलक्षण काव्य की उत्पत्ति होती है। यथा–

शक्तिः– जिसकी सामर्थ्य से व्यक्ति काव्य रचना में समर्थ होता

है उसे शक्ति कहते है। प्रत्येक कार्य की कारणरूप शक्ति होती है। यहाँ पर काव्य रूप कार्य की कारण शक्ति अपेक्षित है। अतः उसे कवित्व शक्ति कहते हैं। शास्त्रकारों के अनुसार पूर्वजन्म में किये गये कर्म आत्मा के साथ संस्कार या वासना रूप में वर्तमान रहते हैं। और जब आत्मा दूसरा शरीर प्राप्त करती है तो संस्कार भी शरीर के माध्यम से प्रस्फुटित होते हैं। इस प्रकार पूर्व जन्म में काव्य के अनुकूल किया गया कार्य संस्कार रूप में वर्तमान रहने पर शक्ति कहलाता है। वह कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज के न रहने पर या उसके पुष्ट न होने पर उर्वरक्षेत्र, जल और खाद निरर्थक है। उसी प्रकार कवित्व संस्कार कविता के उल्लास या उसकी रमणीयता का बीज है। इसके साथ–साथ कवित्व संस्कार के बिना सहृदयता भी नहीं आ सकती। अतः शक्ति शब्द का अर्थ–जिस संस्कार से काव्य निर्माण सामर्थ्य और काव्य रसास्वादनरूप सामर्थ्य का उदय होता है उसे शक्ति कहते हैं। यह शक्ति कवित्व का बीज रूप है। और कवित्व का अर्थ काव्य और सहृदयता दोनों मम्मट मानते हैं। वस्तुतः कवित्व के अभाव में न तो काव्य रचना होगी और न ही आनन्द उससे प्राप्त कर सकेगें। अतः उसे बीज मानना संगत है।

व्युत्पत्ति :– लोकशास्त्र काव्य, आदि पद से इतिहास ग्रन्थों के ज्ञान से व्युत्पत्ति अर्थात् विषयोपस्थान की निपुणता प्राप्त होती है। लोकवृत्त अर्थात् लोक का आचरण। जो दिखाई पड़े वह लोक है। वह दो प्रकार का जड़ और चेतन रूप है। एवं संसार के जड़ और चेतन पदार्थो के स्वरूप और प्रवृत्तियों का ज्ञान अपेक्षित है।

शास्त्र

छन्द– इसके प्रथम आचार्य पिंगलमुनि हैं। जिसके द्वारा काव्य रचना गेय बनती है तथा वर्णों के प्रयोगात्मक नियमों का ज्ञान होता है।

व्याकरण शास्त्र– सुवन्त, तिङन्त पदों के प्रकृति प्रत्यय आदि के भेद ज्ञान के साथ व्युत्पत्तिशब्दों और वाक्यों के प्रयोग में साधु

असाधु का ज्ञान होता है।

अभिधान कोश या (शब्द कोश)– शब्दों के विभिन्न अर्थों का ज्ञान होता है।

कला– ब्रह्म भरत मुनि, कोहल, विशाखिल ने नाट्यशास्त्र में ६४ कलाओं का निर्देश किया है। इसमें नृत्य, गीत, वाद्यादि आते है।

चतुर्वर्ग– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चतुर्वर्ग है। इन चारों का स्वरूप तथा प्राप्ति का उपाय विभिन्न शास्त्रों में वर्णित किया गया है। जैसे– धर्मशास्त्र, जैमिनि ऋषि प्रणीत पूर्व मीमांसा, तथा मनु, याज्ञवल्क्य आदि रचित स्मृति ग्रन्थ।

अर्थशास्त्र–गर्ग, भार्गव, वृहस्पति, शुक्र, आदि रचित नीति शास्त्र।

कामशास्त्र–वात्स्यायनादि रचित भोगविषयक शास्त्र।

मोक्षशास्त्र–व्यास, कपिल, कणाद्, अक्षपाद्, पतञ्जलि आदि रचित वेदान्तादि षट्शास्त्र चतुवर्ग के साधक शास्त्र कहे जा सकते हैं।

खड्गादि– तलवार, धनुष, वाण, भाला आदि आयुध तथा युद्धादि में प्रयुक्त होने वाले हाथी, घोड़ा आदि के लक्षणों को बताने वाले। और आदि पद से मनुष्यों (उत्तम, मध्यम, अधम) तथा स्त्रियों, पशु पंक्षियों, के लक्षणों को बताने वाले ग्रन्थ लक्षण ग्रन्थं कहे जाते हैं। इनका अवेक्षण अर्थात् अवलोकन या काव्यरचना के समय विषय का अध्ययन करते हुए मूल ग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों को ध्यान में रखना ही निपुणता है। इसी लिए "अवेक्षण– पद का प्रयोग किया गया है। कालिदास प्रभृति सार्वभौम महाकवियों ने विभिन्न प्रान्तों, संस्कृतियों, स्थावरजंगम प्रवृत्तियों का जिस प्रकार सजीव और स्वाभाविक वर्णन किया है, वह प्रत्यक्ष देखा हुआ सा प्रतीत होता है। इसका मुख्य हेतु या तो ऋतम्भरा[1] प्रतिभा कह सकते है। अथवा लोक शास्त्रों के

१. तत्तदर्थरसादिगोचरों दृढ़तरसंस्कारः निपुणता।

अथवा

सकल पदार्थपौवार्परपर्यालोचनकौशलमिति"।

अवेक्षण विमर्शन से प्राप्त प्रवीणता, जैसा कि मम्मट स्वयं निरूपित करते हैं।

३. अभ्यासः– भूयः भूयः प्रवृत्तिः। उदिष्ट या अभीष्ट की सफलता हेतु उसकी साधनभूत क्रिया में निरन्तर संलग्न रहना अभ्यास है। प्रकृत में–काव्यज्ञ–काव्यरचना और विचारणा अर्थात् उस वाक्य के गुणदोषादि विवेचन में दक्ष लोगों के द्वारा उपदिष्ट होकर प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्माण और उसमें रसादि संयोजन में निरन्तर संलग्नता अभ्यास कहा जाता है। ("इति" एतेत्रयः) अर्थात् ये तीनों समुदित (सम्+उत्+इणगतौ धातु "क्त" प्रत्ययान्त) सम्मिलित सज्जित होकर काव्य के निर्माण और प्रकाशन अर्थात् सहृदयों की स्वीकृति में हेतु बनते है। न तु व्यस्ताः (वि+असुक्षेपणे+क्त प्रत्यय) अर्थात् पृथक–पृथक काव्य के कारण नहीं हैं। यहाँ पर समुदित शब्द से "दण्डचक्रचीवरन्याय" और व्यस्त शब्द से "तृणारणिमणिन्याय" की प्रतीति होती है। मम्मट के पूर्ववर्ती तथा बाद के पण्डितराज आदि लक्षण ग्रन्थकारों ने काव्यकारण के प्रति अनेकों मत व्यक्त किये हैं। लेकिन जैसे बिना मिट्टी और जल के बीज में अंकुरण सम्भव नहीं है। जैसे कुलीन, विद्वान और राजवंश में उत्पन्न बालक को लोकशिक्षा और वातावरण की अपेक्षा होती है। तथा इन लौकिक साधनों के बिना न तो बीज से वृक्ष उत्पन्न हो सकता है। और न ही कोई भी बालक सभ्य या श्रेष्ठ नागरिक हो सकता है। उसी प्रकार प्रतिभा के होते हुए भी व्युत्पत्ति–अभ्यासरूप साधनों की सापेक्षता आवश्यक है। वृत्तिग्रन्थ में काव्य के समुल्लास में शक्ति निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित हेतु माना गया है। शब्द अर्थ का प्रकाशन करता है। जिस प्रकार बीज में वर्तमान वृक्ष के सूक्ष्म परमाणु अपने स्थूल स्वरूप में आने के लिए प्रकाश, मिट्टी और जल की अपेक्षा करता है। उसी प्रकार काव्य भी स्वरूपतः अपने प्रकाशन हेतु उक्त तीनों की एक साथ अपेक्षा करता है। और भी ग्रन्थ का नाम काव्यप्रकाश है, तथा उसमें दस (१०) उल्लास हैं। अर्थात् स्फुलिङ्ग या चिनगारी हैं। सबको मिलाकर दसों उल्लासों में वर्णित शब्द से लेकर अर्थालंकार पर्यन्त विषयवस्तु काव्य का प्रकाश है।

काव्य लक्षण– लक्षण का सामान्य अर्थ दोष–रहित, गुण–युक्त, अंलकार युक्त या अयुक्त शब्द और अर्थ काव्य है। काव्यलक्षण में "शब्दार्थौ तत्" विशेष्य है। अन्य "अदोषौ, सगुणौ, अनलङ्कती" तीनों विशेषण हैं। यहाँ तत् पद से अभिधेय या ग्रन्थ के प्रतिपाद्य काव्य का गृहण किया जाता है। जैसा कि प्रयोजन निरूपण के समय प्रथम काव्य पद का उल्लेख करके बताया गया है। इस प्रकार "शब्दार्थौ तत्" का अर्थ "शब्द और अर्थ काव्य है" यह अर्थ हुआ। लेकिन शब्द और अर्थ में अर्थात् "शब्दार्थौ" में द्विवचन है। जबकि "तत्" सर्वनाम से ज्ञात "काव्यम" में एक वचन है। अतः "एकविभक्तिकत्वे सति एकार्थवाचकत्वम् सामानाधिकरण्यम्"। इस नियम के अनुसार यहाँ शब्दार्थौ और तत् का परस्पर सम्बन्ध नहीं बन पा रहा है। अर्थात् एक समान अधिकरण नहीं बन पाता। समानता का ज्ञान नहीं हो पाता। इसके उत्तर में "वेदाः प्रमाणम्" इस प्राप्त प्रमाण के अनुसार विशेष्यवाचक शब्दार्थ पद के उत्तर तात्पर्य बोधिका औ विभक्ति द्वित्व संख्या है। उसके विरूद्ध एकत्व संख्या यहाँ काव्यम् में अविवक्षित नहीं है, अर्थात् एकत्व की अपेक्षा है। जैसे–"वेदाः प्रमाणम्" में प्रमाणैक्य का ज्ञान होता है, उसी प्रकार काव्यैकत्व का ज्ञान होता है। अतः शब्दार्थौ काव्यम् में समानवचनकत्व नियम् लागू नहीं होगा।

लक्षण– लक्ष्य को बताने वाला लक्षण कहा जाता है। उसे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष से रहित होना चाहिए। यह लक्षण भी दो प्रकार का होता है। स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण के माध्यम से लक्ष्य के साक्षात् स्वरूप का ज्ञान कराया जाता है। जैसा कि पुरूषसूक्त के द्वारा ईश्वर का ज्ञान कराया गया है। या ईश्वर के स्वरूप का निरूपण किया गया है। दूसरा तटस्थ लक्षण है। इसमें धर्म (गुण) से धर्मी (गुणी) का ज्ञान कराया जाता है। जैसा कि कालिदास आदि ने अपने शाकुन्तलादि काव्यों के मंगलपद्यों में ईश्वर का लक्षण बताया गया है।

मम्मट का काव्य लक्षण सूत्र भी है। जैसा कि ग्रन्थ की मूल कारिकाओं के पूर्व ही (सू०) लिखकर स्पष्ट किया गया है।

सूत्र का लक्षण–

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदोविदुः।।

इस प्रकार सारभूत असंदिग्ध तथा थोड़े शब्दों में लक्ष्य का बोध कराना ही सूत्र लक्षण का स्वरूप है। जिस प्रकार एक ही डोरे में विभिन्न प्रकार के पुष्पों का नियंत्रण रहता है। उसी प्रकार सूत्र या लक्षण से ग्रन्थ की या काव्य की विषयवस्तु अनुप्राणित और सम्बद्ध रहती है। इस प्रकार जिस लक्षण के द्वारा काव्य से भिन्न पदार्थों का परित्याग होकर काव्यमात्र अर्थात् लक्ष्य की प्रतीति हो उसे लक्षण कहते है। यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि स्वरूप शब्द में "स्व" आत्मतत्व को रूप्यते–बताता है जो उसे स्वरूप कहा जायेगा। लेकिन प्रकृतलक्षण काव्य का आत्मतत्वबोधक नहीं है। काव्य का आत्मतत्व है रस। और लक्षण रसमात्र का न होकर रसाश्रयीभूत (रस रहता है जिसमें) काव्यसमवाय का लक्षण है। अतः यहाँ स्वरूप शब्द से अभिधावृत्ति से शक्यार्थरूप लक्षण की प्रतीति होना कठिन है। इस प्रकार मुख्यार्थ के बाधित हो जाने से लक्षणावृत्ति द्वारा ही स्वरूप शब्द से काव्यलक्षण का बोध होगा अथवा मम्मट ने काव्यलक्षण को सूत्ररूप में प्रस्तुत किया है। अतः सूत्रलक्षण के अनुसार स्वरूप शब्द से प्रतीती काव्य की हो सकती है।

इस काव्य के साङ्गोपाङ्ग प्रकाशनार्थ शक्ति प्रभृति तीनों की सम्मिलित हेतुता अपेक्षित है। जैसे स्फुलिङ्गों के समूह रूप प्रकाश को प्राप्त करने के लिए अग्नि, ईंधन और पवन की अपेक्षा होती है।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह –

(*सूत्र–१*) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा–

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा –

स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरूतले चेतः समुत्कण्ठते।। १ ।।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।।

तत् अर्थात् स्वरूप से अविद्यमान (अप्राप्त) तथा प्रसिद्धि अथवा प्रकरण से प्राप्त। एवं ग्रन्थ प्रतिपाद्य शब्द और अर्थ रूप काव्य है। शब्द और अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया जायेगा। इस प्रकार दोषरहित गुणयुक्त अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ काव्य है। यहाँ पहले लक्षणक्रम से विशेषणों का विवेचन करते हैं। जिसमें सर्वप्रथम "अदोषौ" विशेषण प्राप्त है। अदोषौ का अर्थ दोष का अभाव। अभाव का कोई स्वरूप नहीं होता है। अतः अभाव ज्ञान के लिए पहले उस वस्तु के सत्तात्मक स्वरूप की जानकारी की जाती है। इस प्रकार यहाँ पर दोषों के अभाव को जानने के लिए पहले दोषों को जानना आवश्यक हो जाता है। दोष दो प्रकार का है– (१) नित्य, (२) अनित्य

अभाव भी "सामान्य" और विशेष के भेद से दो प्रकार का होगा। अब "अदोषौ" का अर्थ हुआ दोषों का न होना। यहाँ काव्य में क्या (?) दोनों में से अपेक्षित है। दोषों का नित्य–सामान्याभाव अर्थात् किसी भी प्रकार के दोषों का न होना। दोषों का कार्य है काव्य के उद्देश्य (फल–रसानुभूति) में बाधा उत्पन्न करना। उद्देश्य की प्रतीति में बाधा होना ही "अपकर्ष" कहा जाता है। जैसा कि कहा है– "मुख्यार्थहतिर्दोषः का० प्र० ७ उ० दोष लक्षण"। अर्थात् काव्य का मुख्यार्थ "रस" है। और उसका विघात (अपकर्ष) जिससे या जिस कारण से हों उसे दोष कहते हैं। वह दोष नित्य–अनित्य के भेद से दो प्रकार का माना जाता है। नित्यदोष के अन्तर्गत "च्युतसंस्कृति"–व्याकरण आदि की हीनता वाले दोष आते हैं। ये दोष सर्वथा त्याज्य होते हैं। अनित्य दोषों में "श्रुतिकटुत्व" आदि दोष आते हैं। श्रुतिकटु का अर्थ है–जो सुनते ही उद्वेजना (अरुचि) उत्पन्न करे। यह दोष काव्य में सर्वथा त्याज्य (निषिद्ध) नहीं है। अपितु श्रृंगार, करूण, हास्य में ही त्याज्य

है। जब कि वीर, भयानक, वीभत्स, आदि रसों में इन्हें (अनित्य दोषों को) ग्राह्य (उत्कर्षवर्धक) माना गया है। इस प्रकार यदि काव्य में दोष सामान्याभाव अर्थात् दोषों का सर्वथा अभाव लेते हैं, तो वीर, वीभत्स में जहाँ अनित्य दोष उपयोगी हैं, वहाँ काव्यलक्षण का समन्वय नहीं हो पायेगा। अतः लक्षण में अदोष पद से दोषों का विशेषाभाव अर्थात विशेषदोषों का अभाव ही मान्य है। इस प्रकार नित्य दोष (व्याकरणादिगत् दोष) लक्षण में ग्राह्य है। इस प्रकार नित्यदोष से रहित शब्द और अर्थ काव्य है, निश्चित होता है।

"सगुणौ"

दूसरा शब्द और अर्थ का विशेषण है गुण। गुण से युक्त शब्दार्थ काव्य है। मम्मट के मत में गुण तीन है। माधुर्य, ओज और प्रसाद। यद्यपि वामनादि प्राचीन आचार्यों ने (१०) दश गुण–श्लेष प्रसादादि माने हैं। किन्तु उन दशों गुणों का मम्मट ने स्वाभिमत तीनों गुणों में अन्तर्भाव कर दिया है। काव्य में गुण दो प्रकार की अवस्थाओं में रहते है या प्रतीत होते हैं। १. वाह्य स्वरूप से प्रतीत होना जिसे शब्दचित्र अथवा अर्थचित्र कहा जाता है। २. आभ्यन्तर स्वरूप से प्रतीत होना अर्थात् काव्य की आत्मा रस के साथ नित्य सम्बन्ध से प्रतीत होना। यहाँ नित्य सम्बन्ध को ध्यान में रखा गया है। क्योंकि गुणरस में नित्यसम्बन्ध से या काव्य की आत्मा रस के नित्य धर्म के रूप में रहते हैं। जहाँ–जहाँ रस है वहाँ–वहाँ गुण है। इस सिद्धान्त से "सगुणौ" विशेषण से "रसवन्तौ" इस अर्थ की स्वतः प्रतीति हो जाती है।

"अनलङ्कृतीपुनः क्वापि"

यहाँ पर "अनलंकृती" शब्दार्थ का तीसरा विशेषण है। इससे सामान्यतया यही प्रतीति होती है कि अलंकार के न रहने पर दोषरहित गुणयुक्त शब्द और अर्थ काव्य है। लेकिन इस अंश के समुचित विवेचन के लिए "पुनः क्वापि" अंश का ज्ञान होना आवश्यक है। जैसा कि वृत्तिग्रन्थ में मम्मट ने स्वयं बताया है। "पुनः" शब्द का अर्थ है भिन्न क्रम, अर्थात् क्वापि– कही भी ऐसे स्थल में जहाँ अलंकार

स्पष्ट न हो– वहाँ पर भी काव्य पूर्व दो विशेषणों के रहने पर माना जायेगा। दूसरी स्थिति यह है कि "अनलंकृती" में "नञ" समास का प्रयोग किया गया हैं। आचार्यों ने नञ के–

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।

अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।

नियमानुसार छः अर्थ बताये हैं। इसी प्रकार आनन्दवर्धनादि आचार्यों ने यह भी बताया है कि काव्य का ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ थोड़ा बहुत रस, गुण, अंलकारादि न रहें। लेकिन जिसकी प्रधानता होगी उसी के नाम से कथन होगा। इस प्रकार अनलंकृती का अर्थ अंलकारों का सर्वथा न होना न मांन कर थोड़ी होना या स्पष्ट प्रतीत न होना लिया जाता है। जैसे "अनुदरा कन्या", "अंलवणा यवागू" में सर्वथा उदर और लवण का अभाव अर्थ न होकर अल्पत्व ही माना लिया जाता है। इस प्रकार सर्वत्र अलंकार समन्वित ही शब्दार्थ काव्य है। लेकिन कहीं यदि स्फुट प्रतीति नहीं भी होती तो भी काव्य माना जायेगा। इस प्रकार सामान्यतया सभी स्थलों में दोष रहित गुण युक्त अलंकार युक्त शब्दार्थ काव्य है। लेकिन यदि कहीं अलंकाराभाव भी है तो भी प्रयोजन निष्फल न होने के कारण काव्य माना जायेगा।

मम्मटकृत काव्यलक्षण में शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता मानी गयी है। पण्डितराजादि ने शब्द मात्र को प्रधान मानकर काव्यलक्षण किया है। लेकिन मम्मटाभिमत काव्यलक्षण में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा गया है।

१–प्रायः सभी वामनादि प्राचीन आचार्यों ने शब्दार्थ को काव्य माना है।

२–काव्य के मौलिभूत प्रयोजन रसानुभूति (व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति) शब्द और अर्थ दोनों से होती है।

३–शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध होते हुए भी शब्दार्थ की पृथक् प्रतीती होती है। "वागर्थप्रतिपत्तये" कालिदास।

४–भाग्य और कर्म की आश्रयता की तरह विद्वान कवि शब्द और अर्थ दोनों को काव्यरूप में स्वीकार करता है। (*माघ*)

उदाहरण के लिए "यः कौमारहरः" यह पद्य दिया गया है। इस पद्य में स्फुट अलंकारों का अभाव होते हुए भी दोष न होने के कारण तथा गुण या रस से युक्त होने के कारण उत्तम काव्य माना गया है। श्लोक में–नायिका का अपने जिस प्रिय के साथ विवाह के पूर्व रेवा नदी के तट में वेतसलताओं के कुञ्ज में प्रेमालाप होता था। कालान्तर में उसी प्रिय के साथ उसका विवाह हो जाता है। विवाहोपरान्त किसी समय वह नायिका उन्हीं लताकुञ्जों में भ्रमण के लिए जाती है। और वहाँ पर पुरानी प्रेमालाप सम्बन्धी बातों का स्मरण कर उत्कण्ठित होती है। यथा– जिसने मेरे कौमार्य (अक्षतयोनित्व का पूर्व में उपभोग किया था, वही मेरे वर (पति) हैं। वही चैत्रकालीन रात्रियाँ है। तथा वही खिली हुई मालती के पुष्पों के सुगंध से सुरभित और कदम्ब पुष्पों की रेणु से युक्त प्रौढ़ (शीतल, मन्द, सुगन्धित) उत्तेजक पवन बह रहे हैं। मैं भी वही हूँ। जिसने पूर्व में प्रिय का अनुगमन किया है। फिर भी विवाह पूर्व में की गयी सुरत क्रीड़ाओं का स्मरण कर के चित्त में उत्कण्ठा अर्थात् उपभुक्त के प्रति उत्कण्ठा हो रही है।

यहाँ पर यद्यपि विभावना विषेशोक्ति रूप संदेहाअलंकार है। लेकिन उसकी प्रधानतया प्रतीति न होने के कारण वह स्फुट अलंकार नहीं है। एवं स्फुट अलंकार के न होते हुए भी इस पद्य में विप्रलम्भ श्रृंगार की मुख्यतया प्रतीति होती है। अतः रस की प्रधानता तथा दोषों का अभाव होने के कारण इसे उत्तम काव्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जिस प्रकार काव्य के लिए दोष का अभाव और गुणों (रसों) का होना आवश्यक है, उसी प्रकार अलंकारों के होने की बाध यता नहीं है। इसी बात को ध्यान में करके मम्मट ने विशेषणों का पहले दोषाभाव, सगुण और अन्त में अलंकार का उल्लेख किया गया है। इसके साथ–साथ यदि कोई गुण न भी हो किसी वस्तु में लेकिन वह दोष रहित हो तो दोष न होना भी गुण माना जाता है। इसीलिये

विशेषणों का क्रम निर्धारित किया गया है।

तद्भेदान्– तस्य भेदान्, आह–उच्यते। काव्य के भेदों का उपपादन किया जाता है। सामान्य का ज्ञान होने पर विशेष को जानने की आकांक्षा होना स्वाभाविक है। इस प्रकार जिसका (काव्य) अभी स्वरूप बताया गया है। उसके भेद अर्थात् ध्वनि आदि के नियत रूप वाले विशेष लक्षणों को बताया जा रहा है।

तद्भेदान् क्रमेणाह–

(सूत्र–२) **इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।। ४।।**

इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

यथा–

निःश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।२।।

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते।

"इदमुत्तममिति"

जहाँ पर वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में उत्कृष्टता हो उसे विद्वानों (आलङ्करिकों) के द्वारा उत्तम काव्य माना गया है।

सर्वप्रथम वैयाकरणों ने ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। उनके मत में वाच्यार्थ शब्द द्वारा ध्वनित अर्थ है। और वह शब्द से स्फुटित होता है। या व्यञ्जित होता है। इसलिए उसे स्फोट कहते हैं। जैसे–अर्थ प्रतीति रूप फल का उपपादक जो शब्द उससे व्यञ्जित होने वाला व्यंग्यरूप अर्थ उसके व्यञ्जन में समर्थ शब्द को ध्वनि कहा गया हैं इसके बाद के वैयाकरणों के मत का अनुगमन करने वाले अन्य अर्थात् आलंकारिकों के द्वारा जहाँ शब्द और अर्थ अपने को गौण अर्थात् अप्रधान होकर–बनाकर व्यंग्यार्थ को व्यञ्जित करते है, ऐसे शब्द और अर्थ दोनों को अर्थात् शब्दार्थ रूप उत्तम काव्य को ध्वनि शब्द से कहा जाता है। यहाँ पर बुधैः में बुध शब्द का अर्थ वैयाकरण और आलंकारिक दोनों का ज्ञान होगा। क्योंकि ततः पद पूर्व परम्परा के अनुसरण और तृतीयान्त सभी पद एक वाक्यता को और एकार्थता को सूचित करते हैं। इस प्रकार अर्थ की सार्थकता की सिद्धि हेतु ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति जानना आवश्यक है। यथा– "ध्वनतीति ध्वनिः" जो ध्वनित करता है। वह ध्वनि है। इस प्रकार ध्वनि शब्द का बोधक है। जो शब्द से ध्वनित होता है। वह अर्थ है। अर्थात् अर्थ भी ध्वनि है। "ध्वन्यत् इति ध्वनिः" अर्थात् जो ध्वनित हो। इससे व्यंग्यार्थ ध्वनि है।

"ध्वननमिति ध्वनिः" इससे व्यञ्जना व्यापार ध्वनि है। ये चारों प्रकार काव्य से सम्बन्धित होते हैं। अतः ध्वनि शब्द काव्य के लिए भी व्यवहृत होता है। इस प्रकार "प्रथमे–विद्वान्सो वैयाकरणाः" इस कथन के अनुसार सर्वप्रथम शब्द से प्रतीत होने वाले अर्थ के लिए वैयाकरणों ने शब्दस्फोट नामकरण किया। और उस स्फोट को व्यंग्य तथा उसके बोधक शब्द को व्यञ्जक माना गया। आलंकारिकों ने वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले अर्थ के लिए "व्यंग्य" पद का प्रयोग किया तथा उसके प्रत्यायक शब्द को व्यञ्जक माना। उदाहरण–

निःशेषेत्यादि–

यहाँ नायिका नायक को मनाने के लिए अपनी सखी को दूती

बनाकर नायक के पास भेजती है। दूती नायक के पास जाकर उससे स्वयं रमण करती है। और अपने सम्भोगजनित चिन्हों को वापी स्नान द्वारा उत्पन्न बताती है। जिसे सुनकर नायिका जानते हुये भी कि यह असत्य बोल रही है। सीधे न कहकर उसकी बात का समर्थन करती है। लेकिन नायिका और उसके कथन वैशिष्ट्य से यह प्रतीत होता है कि दूती ने नायक के साथ रमण करके नायिका के साथ विश्वासघात किया है। यथा– मिथ्या बोलने वाली और अपनी सखी के कष्ट को न समझने वाली दूती ! तुम्हारे स्तनों के अग्रभाग का पूर्ण रूप से छूटा हुआ चन्दन, नेत्रों के प्रान्त (तट) भाग का अञ्जन (कज्जल) रहित होना, रोमाञ्च से युक्त शरीर, यह बताते है कि तुम उस अधम नायक के समीप नहीं गई। मेरे पास से सरोवर में स्नान करने गई थी।

यहाँ पर नायिका दूती को मिथ्या बोलने वाली तथा मित्र के दुःख को न समझने वाली बताती है। दूती के शरीर चिन्ह भी स्नान को न सिद्ध करके चुम्बन आदि को बताते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि नायिका उत्तम कोटि की है। और अपने नायक को "अधम" पद से सम्बोधित करती है। अधमत्व दो प्रकार से ही हो सकता है। १. जाति से, २. कर्म से । कर्म भी दो प्रकार से होगा। १. नायिका के प्रति २. अन्य के प्रति। अब यदि नायक जाति से अधम होगा तो नायिका दूती को नही भेजेगी। यदि नायक ने अन्य किसी के प्रति अपराध किया होता तो नायिका उसे सत्पथ पर प्रवृत्त करेगी, उसे अधम नहीं कहेगी। इस प्रकार प्रतीत होता है कि नायक ने अपनी उत्तम नायिका के प्रति पुनः अपराध किया है। तभी वह नायक को "अधम" शब्द से सम्बोधित करती है। अतः नायिका के द्वारा नायक के लिये दूती के समक्ष प्रयुक्त "अधम" शब्द दूती और नायक के परस्पर सम्भोगजनित सम्बन्धों को सूचित करता है। जो यहाँ व्यञ्जना व्यापार से प्रतीत होता है।

(सूत्र–३) **अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।**

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि। यथा

ग्रामतरूणं तरूण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।। ३।।

अत्र बञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।।

अतादृशीति

उत्तम काव्य के समान जहाँ पर व्यंग्य में प्रधानता नहीं होती। अर्थात् व्यंग्य वाच्य, लक्ष्य अर्थ की अपेक्षा प्रधानरूप से प्रतीत नहीं होता है। वहीं उत्तम काव्य से भिन्न मध्यम काव्य होता है। ऐसा विद्वानों ने कहा है—इस अंश का पूर्व लक्षण से अध्याहार किया जायेगा।

यथा—ग्रामतरूणमित्यादि—

किसी ग्राम तरूणी ने ग्राम तरूण से अशोकलताकुञ्ज में मिलने का स्थान संकेतित किया। तरूण तो निर्धारित समय में संकेतित स्थान में पहुँच गया लेकिन गृहकार्य में संलग्न होने के कारण तरूणी संकेतित स्थान में नहीं पहुँच सकी। परिणामतः प्रतीक्षा के अनन्तर तरूण अशोकमञ्जरी को हाथ मे लिये हुये संकेतिक स्थान से लौट कर तरूणी के घर के सामने पहुँचता है। उसे देखकर तरूणी के मुख की कान्ति मलिन हो जाती है। यहाँ पर ग्राम तरूण शब्द से एक ही तरूण ग्राम में हैं, और सभी ग्राम तरूणियों को उसकी अपेक्षा है। सौभाग्य से उक्त तरूणी के साथ मिलने का स्थान संकेतिक हो सका। यहाँ नायिका स्वंय संकेत देकर न जा सकी। अतः उसकी मुखकान्ति का मलिन होना स्वाभाविक है।

यद्यपि इस पद्य में तरूणी के संभोगसुखाप्राप्ति रूप विप्रलभ्भश्रृंगार का आभास होता है। लेकिन इसकी अपेक्षा मुखकान्ति के मालिन्यरूप वाच्यार्ध की मुख्यतया प्रतीति होने के कारण वाच्यार्थ ही अधिक

चमत्कारकारी प्रतीत होता है। व्यंग्य के वाच्यार्थ की अपेक्षा गौंण या अप्रधान हो जाने के कारण यहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। नायिका के मुखमालिन्य और उसकी मुख्यतया प्रतीति में ग्रामतरूण का एक मात्र होना, पुनः तरूण की प्राप्ति में कठिनता उसके एक होने के कारण, तरूणी का तरूणी शब्द से ही उपभोग योग्य होने से अतिशय आत्मोकण्ठा होना, नवमञ्जरी से कर सनाथित होना अर्थात् तरूणी भी संसर्ग से कृतकृत्य होगी, आदि कारणों से मुर्हुर्मुहुः (अत्यधिक) मुख की छाया का मलिन होना चमत्कृति प्रदान करता है।

(सूत्र–४) **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्चं त्ववरं स्मृतम्।।५।।**

चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फूटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम अधमम्। यथा–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानान्हिकान्हाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम–
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।। ४ ।।
विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गलानिमीलिताक्षीव भियाऽमरावती।।५।।

अधम काव्य– शब्दचित्रमित्यादि

जिस काव्य के शब्द अथवा अर्थ मात्र में वैचित्र्य होता है। उसे अधम काव्य कहते है। यहाँ पर भी "बुधैः कथितम्" का अध्याहार होगा। वैचित्र्य का तात्पर्य यह है कि जहाँ व्यंग्य अति लीन हो और शब्द में ही स्वरूपतः प्रधानरूप से शब्दालंकारों अथवा माधुर्यादि गुणों की प्रतीति हो। अथवा इसी प्रकार अर्थ में अर्थालकारों की या गुणों की प्रतीति हो। उन्हें शब्दचित्र अर्थ चित्र नामक अवर अधम या तृतीय काव्य कहते है।

शब्दचित्र का उदाहरण– स्वच्छन्देति–

बिना किसी बाधा के ऊँची–२ तरङ्गो से युक्त निर्मल और तट के विवरों (गुफाओं) में प्रवेश करता हुआ, प्रवाह से युक्त और कान्ति से युक्त है जल जिसका। तथा अपने अज्ञान को नष्ट करते हुए ऋषियों द्वारा किये जाते है स्नान तथा संध्यादि कृत्य जिसमें, बड़े–बड़े मेढ़कों से परिव्याप्त हैं कन्दरायें जिसकी; विशाल (बड़े और मोटे) वृक्षों को उखाड़ने के फलस्वरूप बढे हुए अहं से युक्त है ऊँची–ऊँची तरंगे जिसकी वह गंगा नदी आप लोगों के पापों को नष्ट करे।

इस पद्य में प्रयुक्त वर्णों से ही वृत्यनुप्राश तथा ओजगुण की चित्रता प्रतीत होती है। यद्यपि यहाँ गंगा की अन्य नदियों से अधिक उत्कृष्टता प्रतीत होने के कारण व्यतिरेकालंकारध्वनि, तथा गंगा की देवता रूप में प्रतिष्ठा होने के कारण भाव ध्वनि या स्वर्ग प्राप्ति रूप व्यंग्य की प्रतीति होती है। तथापि न तो उक्त अर्थों में कवि का तात्पर्य है और नहीं शब्द की चमत्कृति की अपेक्षा उनकी प्रधानतया प्रतीति होती है।

अर्थचित्र का उदाहरण–विनिर्गतमित्यादि।

यह पद्य "हयग्रीववध" काव्य का है। इसमें हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन किया गया है।

वह हयग्रीव जो अपने पक्ष को मान देने वाला तथा शत्रुओं के मान का खण्डन करने वाला है। जब अपने भवन से स्वेच्छा से न कि आक्रमण के लिए, निकलता है तो उसका भवन से बाहर निकलना सुनकर ही इन्द्र के द्वारा अमरावती की अर्गलाएँ (फाटक) भय और व्याकुलता से इस प्रकार गिराई या बन्द की जाती हैं कि वह अमरावती उस समय उसी प्रकार प्रतीत होती है। जैसे किसी नायिका ने भय से अपनी आँखे बन्द कर ली हो।

इस पद्य में उत्प्रेक्षालंकार तथा प्रसाद और माधुर्य का अर्थगत चित्रत्व प्रतीत होता है। यद्यपि इस पद्य में भी हयग्रीव के

पराक्रमातिशयरूप वीर रस की प्रतीति होती है। किन्तु अर्थचित्रत्व की ही प्रधानतया विलक्षणता अधिक चमत्कृत करती है।

इतिकाव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-

विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः।

// इति प्रथमोल्लासः //

द्वितीयोल्लासः

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह-

क्रमेण – शब्द और अर्थ को काव्य, और उसके विशेषण अदोष, सगुण और सालंकृति को पूर्व उल्लास में बताया गया था। दोष, गुण, अलङ्कारों का निरूपण आगे के उल्लासों में किया जायेगा, ऐसा भी पूर्व में बताया है। अतः प्रथम उल्लास में काव्य सामान्य का लक्षण और उसके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेदों को बताने के बाद इस उल्लास में काव्य के विशेष्यभूत शब्द और अर्थ के स्वरूप को बतायेंगे।

यहाँ क्रम शब्द से लक्षण में प्रयुक्त क्रम की सूचना दी गयी है। लक्षण में पहले "शब्दार्थौ" में शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः पहले शब्द और इसके बाद अर्थ का स्वरूप (भेद) बताया जायेगा। यथा –

(सूत्र–५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा। अत्रेति काव्ये। एषां स्वरूपं वक्ष्यते।।

काव्य में शब्द वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक रूप उपाधि भेद से तीन प्रकार का होता है।

१. वाचक शब्द लाक्षणिक और व्यञ्जक का उपजीव्य है। इसी प्रकार वाचक और लाक्षणिक व्यञ्जक के उपजीव्य (आधार) है।

२. एक ही शब्द उपाधि भेद से तीन प्रकार का होता है। जैसे गंगा शब्द प्रवाह का बोध कराने पर वाचक, तट का बोध कराने पर लक्षक, और शैत्यपावनत्व का बोध कराने पर व्यञ्जक का बोधक होता है।

३. वाचक लाक्षणिक व्यञ्जक कहने से ही तीन प्रकार का ज्ञान हो जाता है। पुनः "त्रिधा" कहने की क्या आवश्यकता है। यहाँ त्रिधा कहने से –

(क) मीमांसकों की गौणी लक्षणा के निषेध हेतु ।

(ख) त्रिधा से शब्द की तीन उपाधियों की प्रतीति हेतु ।

(ग) न्याय वैशेषिक आदि ग्रन्थों में व्यञ्जना का अभाव है। लेकिन काव्य में व्यञ्जना की प्रतिष्ठापना हेतु।

गौणी वृत्ति व्यञ्जना के लिए अनुपयोगी है। इन वाचक लाक्षणिक व्यञ्जक शब्दों का स्वरूप आगे बताया जायेगा।

(सूत्र–६) **वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः**

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्याः।।

जिस क्रम से शब्दों का विभागक्रम है। उसी प्रकार उन तीन उपाधियों से युक्त वाचक, लाक्षणिक तथा व्यञ्जक शब्दों के तीन क्रमशः अर्थ भी होते हैं। जिन्हें वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य अर्थ कहते हैं।

(सूत्र–७) **तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ।। ६।।**

आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्व–यवादिनां मतम्।।

जिस प्रकार त्रिविध पद से प्रतीत होने वाले अर्थ है, और वह व्यंग्यार्थ के आश्रय बनते है। उसी प्रकार पद समुदायरूप वाक्य से प्रतीत होने वाले अर्थ को वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ कहते है वाक्य से प्रतीत होने वाले इस तात्पर्यार्थ में किस वृत्ति (व्यापार) का आश्रय लिया जायेगा इस पर मीमांसकों के दो मत है। प्रथम मत कुमारिलभट्ट और उनके अनुयायिओं का है। जो वाक्यार्थ की प्रतीति लक्षणा वृत्ति से मानते हैं। दूसरा मत प्रभाकर और उनके अनुयायिओं का है। जो

वाक्यार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति से मानते है। यथा– तत् = तात्पर्याख्या वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। "अपि" शब्द से वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है।

"केषुचित्" षष्ठी के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अतः "कुछ लोगों के मत में" अर्थ होगा। इस प्रकार कुछ लोगों के मत में पद समुदायरूप वाक्य से तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या किसी भी प्रकार के पद समुदाय से अर्थ की प्रतीति हो जायेगी। इसका समाधान और स्वरूप निर्देश वृत्तिग्रन्थ में कर रहें है। यथा– आकांक्षेत्यादि–

आकांक्षा– प्रतीति का (ज्ञान का) पूर्ण न होना, या सुनने वाले की जिज्ञासा का पूर्ण न होना। अथवा एक पद सुनने के अनन्तर दूसरा पद सुनने की इच्छा आकांक्षा है। जैसे–राम शब्द मात्र कहने पर या किसी को बुलाने पर वह आगे के शब्दों को सुनने की अपेक्षा रखता है। जिससे कि उसे यह ज्ञात हो सके कि मुझे बुलाने वाला आगे क्या कहता है। इसी को आकांक्षा कहते है। क्योंकि एक पद सुनने मात्र से उसे कहने वाले के अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो पाता है। इसी को– पूर्वापरविशेषकारणत्वज्ञानरूपा–आकांक्षा भी कहते हैं।

योग्यता– पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में कोई बाधा न होना योग्यता है। या एक पदार्थ के साथ दूसरे पदार्थ का स्वाभाविक संसर्ग, अथवा वाक्यार्थ की अवाधित प्रतीति योग्यता है।

सन्निधि– पदों का एक ही काल में उच्चारण सन्निधि कहा जाता है। अर्थात् कर्ता कर्म, क्रिया बोधक पदार्थों को एक ही काल में उच्चारण करने से ही अन्वित अर्थ की प्रतीति हो सकती है।

इस प्रकार कर्ता कर्म क्रिया बोधक पदार्थो का परस्पर समन्वय आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि रूप प्रमाण से होने पर तात्पर्यार्थ रूप–पदार्थ से भिन्न संसर्गतारूप विशेष शरीर वाला वाक्यार्थ प्रकाशित होता है। या अनुभव का विषय बनता है।

वाक्यार्थ प्रतीति कैसे होती है इसका प्रतिपादन मुख्यतया मीमांसकों ने किया है। और उनके भी दो मत हैं। जिसका यहाँ निरूपण किया जा रहा हैं। इस संदर्भ में सामान्यतया यह जानना चाहिए कि दोनों मतों में आकांक्षादि प्रमाणों से ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। लेकिन एक मत (अभिहितान्वयवादी) उसे तात्पर्याख्या या लक्षणावृत्ति गम्य माना है। और अन्विताभिधानवादी उसे अभिधावृत्ति गम्य मानते है। अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यह है कि जिन पदों का अर्थ पहले ज्ञात हो चुका है, उन्हीं का वाक्यार्थरूप में अन्वय मानने वाले। अन्विताभिधान मत से पहले अन्वित अवस्था में वाक्य का प्रयोग होता है, बाद में पदार्थ ज्ञान पुरस्सर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि आकांक्षा और योग्यता को वाक्य रूप पदोच्चय अथवा पद समूह को जो धर्म बताया गया है वह मुख्य रूप से नहीं अपितु औपचारिक रूप से ही संकेत किया गया है। क्यों ? इसलियें कि आकांक्षा, अथवा एक पद से अन्वित होने वाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का। इसी प्रसङ्गानुसार योग्यता भी पद–धर्म नहीं किन्तु पदार्थ धर्म ही है, क्योंकि उपपत्ति का सद्भाव अथवा असद्भाव पदों से नहीं अपुित पदार्थों से सम्बन्ध रह सकता है। किन्तु जब उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कह सकते हैं कि आकांक्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय धर्म है। यथा–

अभिहितान्वयवादियों के मत में आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि की सामर्थ्य से पद समुदाय द्वारा प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थरूप अर्थ जो मिले हुए रूप में प्रतीत होता है। उसको ज्ञात कराने वाला वाक्य में कोई पद नही है। यदि यह कहें कि सभी पद मिलकर उस अर्थ को बताते है तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि उस वाक्यार्थ में उन पदों का संकेत नहीं है। सभी पद अपने अर्थ में सकेंतित होते हैं। "वृत्या पदजन्यपदार्थोपरिस्थितिःशाब्दबोधेकारणम्" । इस नियम के अनुसार बिना व्यापार के कोई भी अर्थ प्रतीत नहीं होता है। अतः अन्वित अर्थ के लिए किसी न किसी शब्द की वृत्ति (व्यापार) की

जरूरत (अपेक्षा) है। और वह वृत्ति भाट्ट मत में तात्पर्या, तथा प्रभाकर के मत में अभिधा है।

यद्यपि भाट्ट मत में पदों की तीन वृत्तियाँ ही मानी गई हैं। जिन्हें अभिधा, लक्षणा, गौणी वृत्ति नाम दिया गया है। तात्पर्यावृत्ति का नाम से उल्लेख नहीं मिलता। तथापि पद मात्र पदार्थ बोधन के लिए न होकर वाक्यार्थ बोधपर्यन्त उपयोगी होते हैं। यथा– पदानि हि स्वं–स्वं पदार्थामभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेंदानींपदार्था अवगतास्सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति। इस कथन के अनुसार पदार्थ वाक्यार्थ बोध कराते हैं। यद्यपि वाक्य में प्रयुक्त पद अपने–अपने ही अर्थ का बोध कराते हैं। लेकिन पदों का पदार्थ मात्र ज्ञान कराना तात्पर्य नही है। पदों में होने वाला अभिधा व्यापार पदार्थ मात्र में पर्यवसित हो जाता है, किन्तु तात्पर्य का पर्यवसान वाक्यार्थ ज्ञान के अनन्तर ही होता है। इस प्रकार "तद्भूतार्थानां क्रियार्थेन समाम्नायः" इस नियम के अनुसार सामान्य विशेष भाव से परस्पर सम्बद्ध पदार्थ वाक्यार्थ का बोध कराते है। इससे जहाँ एक ओर वाक्यार्थ की शब्द – प्रमाणगम्यता सिद्ध होती है। वहीं दूसरी ओर पदों के पदार्थ ज्ञान के प्रयोजन (वाक्यार्थ ज्ञान कराना) की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार आकांक्षादिप्रमाणों से परस्पर सम्बद्ध पदार्थ वाक्यार्थ मुद्रा में भाषित होता है। इस वाक्यार्थ की प्रतीति में जब वृत्ति (व्यापार) का प्रश्न आता है तो भाट्ट मत में–

अर्थो ह्यनन्वितावस्थः पदेनाभिहितो यतः।
अन्वितामात्मनोऽवस्थां लक्षितामेव लक्षयेत्।।

इस कारिका के अनुसार लक्षणा वृत्ति का ही उल्लेख मिलता है। यहाँ "लक्षितां" पद से तात्पर्य रूप से प्रतीत होना" अर्थ लिया जाता हैं। मीमांसकों के मत में अभिधेय से अविनाभूत सम्बन्ध से सम्बद्ध की प्रतीति "अभिधेयाविनाभूतेप्रतीतिर्लक्षणोच्यते। इस नियम से लक्षणावृत्ति द्वारा ही होती है। जयन्तभट्ट ने अवश्य अपने न्यायमञ्जरी ग्रन्थ में तात्पर्य पद का प्रयोग किया है। यथा–

अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।

तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधि।।

(न्या०म०पृ० ३७२)

धनञ्जय भी दशरूपक में सभी अर्थों को तात्पर्यरूप मानते हैं।

यथा– **एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।**

यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाघृतम्।। *(दशरूपक)*

इस प्रकार पदार्थातिरिक्त पद समूह से प्रतीत होने वाला अर्थ वाक्यार्थ या तात्पर्य रूप ही है। और भाट्टों के मत से उसे लक्ष्यार्थ या तात्पर्यार्थ कहते हैं।

इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के मत में "पदों का अर्थ हमें पहले ज्ञात होता है, जिसे पदार्थ कहते हैं। उन्हीं कर्ता, कर्म, क्रिया बोधक पदार्थों को जब आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि रूप कारणों से एक साथ मिलाकर प्रयोग करते हैं। तो जो सामुदायिक अर्थ प्रतीत होंता है, उसे तात्पर्यार्थ कहते है। यथा– देवदत्त लकड़ियों से चावल पकाता है। इस वाक्य में देवदत्त कर्ता, लकड़ी करण (साधन) चावल कर्म, पकाना क्रिया है। और इनका (पदों का) अर्थ पहले से जानकर ही वाक्य में एक साथ प्रयोग किंया जाता है। और वह सामूहिक अर्थ तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ कहा जाता है।

वाच्य एव वाक्यार्थः– अभिधेय अर्थ या अभिधावृत्ति से ही प्रतीत होने वाला अर्थ वाक्यार्थ है। अर्थात् वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थ की तरह अभिधावृत्ति से ही होती है।

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।।

अन्विताभिधानवादी शब्दार्थ ज्ञान में जो– "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः" ये आठ प्रमाण है। उनमें लोक व्यवहार को ही मुख्य मानते हैं। इनके मत में स्वतन्त्र पद से पदार्थ की प्रतीति नहीं

होती – अपितु वाक्य में अन्वित पदों से ही अन्वितावस्था में पदार्थ का ज्ञान होता है। जैसे–"देवदत्त गाय लाओ।" यह वाक्य किसी वृद्ध व्यक्ति ने अपने सेवक आदि से कहा। और जिससे कहा गया वह गाय ले आया। इसी प्रकार वस्तुओं के लाने, ले जाने से सम्बन्धित विभिन्न वाक्यों का प्रयोग किया गया। वहीं पर कोई बालक भी बैठा है। जो अभी लोक व्यवहार या पद के पदार्थ ज्ञान से अनभिज्ञ है। वह बालक उस समय उन बातों को सुनता भी है और उनके अनुसार सेवक आदि की क्रियाओं (चेष्टा) अर्थात् वस्तुओं के लाने ले जाने को भी देखता है। इस प्रकार बार बार वृद्धों की बातों और उनके अनुसार सेवकों द्वारा किये गये कार्यो को सुन और देखकर बालक को यह ज्ञान होता है कि वृद्ध द्वारा कहे गये वाक्यों के अन्तर्गत इन शब्दों का यही अर्थ है। क्योंकि वृद्ध के ऐसा कहने पर सेवक ने यह किया था। चूँकी शब्द का प्रथम ज्ञात अर्थ वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) होता है। और बालक को वाक्य में प्रयुक्त पदों से ही प्रथम अर्थ की प्रतीती हुई है, जो कि पहले उसे ज्ञात नहीं था। अतः वाक्यार्थ वाच्यार्थ ही है, वह तात्पर्यार्थ या लक्ष्यार्थ नही है। अर्थात् वाक्यार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति (व्यापार) से ही होती है। लक्षणा से नहीं होती। मम्मट द्वारा यहाँ दोनों मतों का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ या लक्ष्यार्थ माना जाय लेकिन दोनों ही स्थितियों में वाक्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

उपाधिगत भेद से तीन प्रकार के वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्द स्वरूप और चार प्रकार के अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तथा तात्पर्य) स्वरूप बताकर आगे के सूत्र में उक्त चारों अर्थ व्यंग्यार्थ के व्यञ्जक होते है, निरूपित करेंगें। यथा–

(सूत्र–८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।

तत्र वाच्यस्य यथा'

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ।। ६ ।।

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते।

प्रायः सभी प्रकार के अर्थों में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। सूत्र में "प्रायशः" और "अपि" शब्द का प्रयोग विशेष तात्पर्य से किया गया है। प्रायशः शब्द का अभिप्राय यह है कि सभी अर्थ सामान्यतया व्यञ्जक नहीं होते, लेकिन जिन अर्थों में तृतीयोल्लास में बताये गये वक्तृबोधव्यादि हेतु घटित होंगे, वह सभी अर्थ व्यञ्जक होंगे या व्यंग्यार्थ का बोध करायेंगे। इसी प्रकार "अपि" शब्द का तात्पर्य यह है कि जैसे आगे वताये गये "संयोगादि" हेतुओं से शब्द व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है। उसी प्रकार अर्थ भी व्यञ्जक होते हैं। यहाँ पर सूत्र में "अपि" का प्रयोग पहले होना चाहिये था बाद में प्रायशः का प्रयोग होता। यथा– जैसे संयोगादि हेतुवो से शब्द से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार प्रायः सभी अर्थ भी वक्तृबोधव्यादि हेतुवों के होने पर व्यञ्जक होते हैं। अथवा व्यञ्जक शब्द की सन्निधि में "अपि" शब्द के प्रयोग का अभिप्राय व्यंग्यार्थ में भी व्यञ्जकता को प्रतिष्ठित करना है। वाच्य लक्ष्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति होता ही है।

उदाहरण– वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति अर्थात् अभिधेयार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण दिया जा रहा है। "मातर्गृहोपकरणमिति" कोई नायिका उपनायक से मिलने के लिए घर से बाहर जाना चाहती है। बाहर जाने के लिए कोई बहाना चाहिए। अतः वह अपनी सास से भोजनसामग्री लाने का उद्देश्य बताती है। हे माता ! आज भोजन आदि की कोई भी साधन सामग्री नहीं है। जिससे की भोजन व्यवस्था की जा सके। जैसा कि तुमने बताया है। अतः मुझे निर्देश दो कि क्या किया जाये। अर्थात् जैसे तुम निश्चिन्त हो वैसे दिन स्थिर नहीं रहेगा। यहाँ पर किसी भी प्रकार की भोजन तथा ईंधन सामग्री का घर में सर्वथा अभाव है। रात्रि भोजन हेतु व्यवस्था भी अपेक्षित है। यदि कोई एक सामग्री का अभाव हो तो कदापि पड़ोस से माँगी जा सकती है, लेकिन समग्र गृहोपकरण की व्यवस्था करनी ही होगी। अतः मुझे आदिष्ट करो कि मैं वाहर जाकर व्यवस्था करूँ।

इस पद्य में वाक्यार्थ रूप से प्रतीत होने वाले वाच्यार्थ से यह

व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि नायिका घर से बाहर उपकरण सामग्री लाने के व्याज से उपपति के साथ समागम रूप अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहती है। यद्यपि प्रसंङ्गतः स्वैरिणी की उक्ति होने के कारण ही उसकी उपपति समागमेक्षा का ज्ञान होता है। तथापि माता इस सम्बोधन तथा वृद्ध व्यक्ति को उसकी कर्तव्यता का बोध कराना भी अभिप्राय विशेष को सूचित करता है। माता शब्द से अनुकूल बनाना, तथा अन्य किसी की अनुपस्थिति में इस प्रस्ताव के माध्यम से बाहर जाने के उपायरूप व्याज उपस्थित कराना वाच्यार्थ की कोटि में आते है। उपयुर्क्त हेतु पूर्व से ज्ञात स्वभाव वाली नायिका के परपुरूष समागमरूप उत्कण्ठा को व्यक्त करते हैं। अर्थात् वाक्यार्थ प्रतीति के अनन्तर "रमण हेतु" नायिका उपपति के पास जाना चाहती है। यहाँ पर उपपति के समीप रमण हेतु जाना चाहती है।" इस अर्थ की प्रतीति शब्द के किस व्यापार से होगी, यह प्रश्न आने पर शब्द का अभिधेयार्थ स्पष्ट है। मुख्यार्थवाधादि हेतुवों के अभाव में लक्ष्यार्थ सम्भव नही है। अतः काव्य में शब्द का जो तीसरा व्यञ्जना व्यापार है। उसी व्यापार से उक्तार्थ की प्रतीति मानी जाती है। यहाँ पर वाच्य का प्रयोग अन्विताभिधानवाद को समन्वित करने के लिए किया गया है।

लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण–

लक्ष्यस्य यथा–

साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते।

सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया।।

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यं तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम्।

साधयन्तीति– किसी नायिका के द्वारा अपने असंतुष्ट नायक को प्रसन्न करने के लिए अपनी सखी को दूती बनाकर भेजा जाता है। दूती नायक के पास जाकर स्वयं रम्रण करती है। और वापस आकर

नायिका से अपनी असफलता की बात करती है। लेकिन नायिका दूती के सम्भोग जनित चिन्हों को देखकर जान जाती है कि यह झूठ बोल रही है। अतः नायिका दूती से सीधे शब्दों से न कह कर उसी के शब्दों से कहती है। यथा– तुम मेरे लिये मेरे नायक को अनुकूल बनाने के लिए निरन्तर प्रयास करने के कारण अतिशय श्रान्त हो गयी हो। तुम्हारा मेरे प्रति सद्भाव (सज्जनता) और प्रेम जैसा होना चाहिये उसके अनुरूप ही कार्य किया है।

यहाँ पर वाच्यार्थ प्रतीति के अनन्तर दूती के शरीरगत् सम्भोगजनित चिन्हों को देखकर मित्रता के अनुरूप कार्य बाधित हो जाते हैं। अतः विपरीत लक्षणा द्वारा सदृश का विपरीत, और सद्भाव तथा स्नेह पदों का शत्रुता रूप विपरीत अर्थ प्रतीत होता है। अर्थात् "दूनासि" – खिन्न हो (थक गयी हो) इस पद से दूती के प्रति नायिका द्वारा कहे गये वाक्यों का मुख्य अर्थ सहृदयों द्वारा अग्राह्य हो जाता है। और शत्रुत्वपूर्ण व्यवहार की प्रतीति कराता है। अतः यहाँ पर मुख्यार्थ मित्रतापूर्ण व्यवहार तथा लक्ष्यार्थ शत्रुतापूर्ण आचरण और कामुकतारूप नायिका के प्रति किया गया अपराध व्यंग्यार्थ है। यहाँ पर "कामुक" पद से (नायक और दूती) दोनों का ज्ञान होता है। क्योंकि "कामुकी च कामुकश्च" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "सरूपाणमेकशेष एक विभक्तौ" नियम से एक ही पद अवशिष्ट रहेगा।

व्यंग्यार्थ से व्यंग्यार्थ का उदाहरण–

व्यङ्ग्यस्य यथा–

पश्य निश्चलनिष्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ।।

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं तेन च जनरहित्वम्, अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चि त्प्रत्युच्यते। अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते।।

पश्येत्यादि– उपनायक से कोई नायिका किसी निर्जन स्थान में सरोवर के तट पर कमल–पत्र में वैठी हुई बगुली को निर्दिष्ट करते हुए कह रही है। देखो कमलिनी पत्र में निश्चल (शरीर क्रिया शून्य) चलन क्रिया से शून्य। और निष्पन्द (अवयव क्रिया शून्य) स्थिर होकर बैठी हुई बगुली हरितमणि थाली में रखी हुई शंखसुक्ति की तरह प्रतीत हो रही है।

इस पद्य में निश्चल, निष्पन्द शब्दों से बगुली का सर्वथा भय से रहित होना व्यञ्जित होता है। और उस व्यंग्य से दूसरे व्यंग्य की प्रतीति होती है कि बगुली की निश्चलता और निष्पन्दता से यह ज्ञात होता है कि यहाँ कोई आता नहीं है। यह स्थान सर्वथा निर्जन है। अतः हम लोगों को मिलने के लिए सर्वथा उपयुक्त स्थान है। अथवा उपनायक से नायिका के उक्त स्थान में पहले पहुँचने पर नायक ने कहा होगा कि मैं पहले आ चुका था, तुम नहीं आयी, अतः मैं चला गया। नायिका बगुली की निश्चलता और निष्पन्दता को इंगित करते हुए कहती है कि तुम यहाँ नहीं आये झूठ बोल रहे हो। यदि आये होते तो यह बगुली इस तरह निश्चिन्त होकर न बैठी होती। अर्थात् मेरे आने के पूर्व यहाँ कोई नहीं आया है।

यहाँ तक शब्दों के वाचकादि (उपाधिगत) स्वरूपों तथा उसके वाच्यादि अर्थों के स्वरूपों का निरूपण करके अब वाचकत्वादि क्या है ? अर्थात् वाचकादि शब्दों के वाचकत्वादि स्वरूपों का निर्धारण किस आधार पर होता है, इसका निरूपण करेंगे। जिसमें सर्वप्रथम क्रम प्राप्त वाचक शब्द का निरूपण करते है।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह –

(*सूत्र–९*) साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।। ७ ।।

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः।

साक्षादिति—इस शब्द का यह अर्थ होता है। "अर्थात् "घट" शब्द का घट पदार्थ ही अर्थ होगा। इस प्रकार जो शब्द और उसके अर्थ का निर्धारित सम्बन्ध है, उसी को साक्षात् सम्बन्ध कहते हैं। इस प्रकार निश्चित सम्बन्ध द्वारा शब्द जब अपने अर्थ का बोध कराता है। तो वह शब्द उस अर्थ के प्रति वाचक कहा जाता है।

"इह" लोक व्यवहार में जब तक हम किसी शब्द के अर्थ को पूर्व से नही जानेंगे। तब तक उस शब्द को सुनने पर भी उसका अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता है। इसी को वृत्ति ग्रन्थ में बताया गया है। जिस शब्द का उसके अर्थ के प्रति संकेतग्रह अर्थात् पहले से ज्ञान नहीं है। उस शब्द का प्रयोग होने पर भी उसके अर्थ का ज्ञान नही हो सकता, अतः प्रत्येक शब्द संकेतित होने पर ही अपने निर्धारित अर्थ का ज्ञान कराता है। इस प्रकार जो शब्द विना व्यवधान के अपने अर्थ का बोध कराता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है। "अव्यवधान" से तात्पर्य यह है कि शब्द अनेक अर्थो में संकेतित होता है, लेकिन प्रयोग काल में वह शब्द सभी अर्थों का एक साथ बोध नहीं कराता। सोद्देश्य किसी अर्थ विशेष का बोध कराता है। दूसरे अर्थ उस काल में वाच्य न होकर व्यंर्ग्य हो जाते है। जैसे भोजन के समय सैन्धव का प्रयोग केवल लवणार्थ अभिधा से ज्ञान करायेगा। "अश्व" अर्थ व्यंग्य होंगा। इसीलिए अव्यवधान" पद का प्रयोग किया गया है। पूर्व सूत्र में वाचक शब्द आया है जिसका अर्थ है बताने वाला या संकेत करने वाला। इसी प्रकार संकेत शब्द का प्रयोग पूर्व सूत्र में हुआ है। जिसका अर्थ है निर्धारित या निश्चित अर्थ को कहना।

(सूत्र—१०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तयाप्यानन्त्याव्द्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तु न युज्यते, इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादिनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च।

वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः – सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः – पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये "न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति"। द्वितीयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः। परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्ल शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं, गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

तद्वान् अपोहो वाशब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरव–भयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम्।

अब प्रश्न यह है कि शब्द निश्चित अर्थ को कहने के लिए किस माध्यम का आश्रय लेता है, अर्थात् शब्द द्वारा निर्धारित अर्थ को बताने का आधार क्या है। क्या शब्द सीधे पदार्थ (वस्तु) को बताता है या उसके धर्म उपाधि के माध्यम से उस वस्तु का ज्ञान कराता है। इस पर विद्वानों के कई मत है। जिनमें प्रमुख वैयाकरण तथा मीमांसक है। अतः इस सूत्र में इन्हीं दोनों मतों का उल्लेख किया गया है। प्रथम मत वैयाकरणों का है। इनके अनुसार शब्द चार प्रकार के (जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य) अर्थो को संकेतित कराता है। दूसरा मत मीमांसकों का है उनके अनुसार शब्द केवल "जाति" रूप अर्थ का ही

संकेत करता है। यथा– संकेतित अर्थ जाति आदि पद से गुण क्रिया और द्रव्य भेद से चार प्रकार का होता है। अथवा केवल जाति रूप ही संकेतित अर्थ होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि– किसी भी कार्य को करने वाला या कार्य का आश्रय व्यक्ति होता है। क्योंकि जात्यादि से क्रिया नहीं हो सकती है। अतः व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए। लेकिन ऐसा मानने से दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते है, जिन्हें आनन्त्य और व्यभिचार" कहते है। अतः व्यक्ति में सकेंत नहीं माना जा सकता। अर्थात शब्द से व्यक्ति का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। इसी का निरूपण वृत्तिग्रन्थ में किया गया है। यथा–

यद्यपि लोकव्यवहार में फल सिद्धि के लिए किया जाने वाला कार्य, उसका आश्रय व्यक्ति ही होता है। या अर्थ = प्रयोजन, उसकी सिद्धि के लिए की जाने वाली क्रिया, उसका क्रिया का आश्रय व्यक्ति है। जैसे "गाय लाओ" कहने पर लाने या ले जाने का आश्रय गाय ही है, उसके जाति गुणादि नहीं। अतः इस "गौ" शब्द से व्यक्ति का ज्ञान होना चाहिए न कि जात्यादि का। लेकिन यदि हम व्यक्ति में संकेत मानेगें तो एक ही "गौ" शब्द से सभी "गौ" व्यक्तियों का ज्ञान होगा। जबकि सभी "गौ" व्यक्तियों की न तो एक काल में उपस्थिति सम्भव है और न ही अपेक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि यदि गौ व्यक्तियों को शब्द का अर्थ माने तो आनन्त्य दोष होने लगेगा। इसी प्रकार यदि एक "गौ" शब्द का एक गो व्यक्ति अर्थ लिया जायेगा तो वही गौ शब्द गौ व्यक्ति के समान दूसरे गौ व्यक्ति का ज्ञान न करा पाने के कारण बाधित हो गया। अतः वहाँ व्यभिचरित होने के कारण व्यभिचार दोष माना जायेगा। इस प्रकार शब्द का संकेत (अर्थ) व्यक्ति न होकर उसके उपाधिरूप होता है। शास्त्रों में व्यभिचार का अर्थ बाधा लिया जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति का अर्थ द्रव्य, वस्तु, पिण्ड या पदार्थ लिया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति में शब्द का संकेत न मान कर उसकी उपाधि जाति, गुण, क्रिया या द्रव्य में संकेत माना जाना चाहिए। क्योंकि ये चारों उपाधियाँ एक ही व्यक्ति में एक साथ

पायी जाती है। अर्थात् एक व्यक्ति में गोत्वादि जाति, नीलपीतादि गुण, चलन आदि क्रिया तथा लोकव्यवहार के लिए पिण्ड विशेष का परिचायक नाम एक साथ ही देखने को मिलते है।

व्यवहार दशा में किसी ने कहा कि गाय ले आओ, वहाँ पर कई गायें है। किसे लाया जाय, यह प्रश्न आने पर गुण का आश्रय लेकर शुक्ल, नील पीतादि के द्वारा विशेष का ज्ञान काराया जायेगा। यदि सभी गायें एक रंग की हैं तो क्रिया के द्वारा चरती हुयी, दौड़ती हुई आदि का आश्रय लिया जाता है। यदि इससे भी काम न चले तो हम उनके नाम रखते हैं। और उन नामों के द्वारा ज्ञान करते हैं। जिसे द्रव्य या पिण्ड की मात्र उपाधि कहते हैं। इस प्रकार वाचक शब्द से वस्तु या द्रव्य का संकेत न होकर उसकी उपाधि जाति, गुण क्रिया या द्रव्यत्व का ही संकेत किया जाता है। द्रव्योपाधि का अभिप्राय यह है कि किसी व्यक्ति का यदि राम, श्याम आदि नाम है तो उन राम, श्याम आदि नामों से पिण्ड विशेष (जिसका राम, श्यामादि नाम है) का ही ज्ञान होगा। इसी को द्रव्योपाधि या द्रव्यत्व या पिण्डोपाधि कहते हैं। यह उपाधि वक्ता द्वारा स्वेच्छया कल्पित होती है। तथा पिण्ड मात्र का बोध कराती है। अतः इसे यदृच्छात्मक उपाधि भी कहते है।

शब्द द्वारा जिन उपाधियों का संकेत होता है, वह उपाधियाँ भी मूलतः पहले दो प्रकार की होती हैं। १. सिद्धोपाधि, २. साध्योपाधि।

सिद्धोपाधि के भी दो भेद माने गये हैं। १. पदार्थ का प्राणप्रद धर्मरूप, तथा २. विशेष का आधान हो जिससे ऐसा कोई हेतु। यहाँ पर पहले दो प्रकार की उपाधि बताया वस्तु धर्म और वक्तृयदृक्षा सन्निवेशित। वस्तुधर्म के सिद्ध और साध्य। पुनः सिद्ध के दो भेद किये गये और उन दोनों भेदों में प्राणप्रद और विशेषाधान को रखा गया। साध्य उपाधि का स्वरूप आगे बतायेंगे। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि वस्तुधर्मरूप सिद्ध उपाधि में जाति और गुण को लिया जाता है। तथा साध्य में क्रिया को ग्रहण किया जाता है। यथा– सिद्ध उपाधि के अन्तर्गत जो प्राणप्रदधर्म रूप उपाधि है। अर्थात् जो जन्म

से प्राप्त होती है वह जातिरूप है। जैसा कि वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा गया है कि गौ न तो स्वरूप से गौ है और न ही गौ से भिन्न है। अर्थात् स्वरूप देखकर उसे गाय है या नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। लेकिन उसमें गोत्व है तो उसे गाय कहा जायेगा। अर्थात् गौ का जो गोत्वरूप प्राणप्रद धर्म है, उसी के कारण उसे गौ कहा जाता है। क्योंकि जातिरूप पदार्थ को ही प्राणप्रद धर्म कहते है। क्योंकि यही प्राणप्रद धर्म उसे अन्य से अलग रूप में परिचित कराता है। विशेषाधानरूप जो दूसरी उपाधि है – उसे गुण कहते हैं। जो कि नील, पीत, रक्तादि है। इसी गुणरूप विशेष उपाधि के कारण कोई वस्तु अपने सजातीय से अलग प्रतीत होती है। जैसे गोत्व जाति वाली अनेकों गायों में लाल, काली आदि गायें विशेषरूप से जानी जा सकती हैं।

वस्तुधर्म के अन्तर्गत साध्य उपाधि क्रियारूप होती है। क्रिया का अभिप्राय यह है कि, कोई व्यक्ति अध्ययन करते समय विद्यार्थी, भोजन कार्य करने पर पाचक – अध्यापन कार्य करने पर अध्यापक, कृषि कार्य करने पर कृषक आदि उपाधि से व्यवहृत होता है। इन्हीं क्रिया द्वारा प्राप्त होने वाली उपाधि को साध्य उपाधि कहते हैं। साध्योपाधिरूप क्रिया का क्या रूप होगा इसी को यहाँ बताया गया है। चावल पकाने के लिए आग में वटलोई चढ़ाने से लेकर उतारने तक जो कार्य होता है उसी को पाक क्रिया कहते हैं। यहाँ साध्य या फल है चावलों का पकाना, चावल के पकाने पर्यन्त जो भी विभिन्न कार्य होते हैं उन्हें क्रिया पद कह जाता है। भर्तृहरि भी "यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यमिधीयते।। आशय यह है कि जब तक किसी कार्य की सिद्धि के लिये क्रिया का क्रम–क्रियाव्यापार चालू रहता है तब तक उसे साध्य या क्रिया कहते है। इस क्रिया को करने वाला क्रियोपाधि से युक्त होता है। तथा यह क्रियोपाधि उस कर्ता की संकेतक होती है। जैसे पाचक, धावक, अध्यापक आदि।

चौथी उपाधि – वक्तृयदृच्छासन्निवेशित उपाधि कही जाती है।

यह उपाधि प्राणप्रद धर्म से भिन्न, क्रिया से भिन्न केवल द्रव्य के ज्ञान के लिए वक्ता द्वारा निर्धारित की जाती है। जैसे किसी व्यक्ति के कई लड़के हैं। वह व्यक्ति उन लड़कों को सम्बोधित करने के लिये राम, श्याम, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम रखता है। या पशुओं आदि के कल्पित नाम रखे जाते हैं। लेकिन नामों (संज्ञाओं) का उस वस्तु से कोई सार्थक सम्बन्ध नही होता। फिर भी ये शब्द उच्चरित होने पर उस व्यक्ति या वस्तु विशेष का ज्ञान करते हैं। इसी को वक्ता द्वारा सन्निवेशित अर्थात् आरोपित उपाधि कहते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस कल्पित उपाधि से द्रव्य या वस्तु का ज्ञान कैसे होता है। क्योंकि शब्द तो उच्चारण करते ही नष्ट हो जाता है। देवदत्त कहते ही क्रमशः 'द' के नष्ट होने पर ही 'ए' का उच्चारण होगा। इसी प्रकार सभी वर्णों की स्थिति होती हैं। इसके समाधान हेतु आचार्यो ने जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया है, उसमें माना गया है कि यद्यपि उच्चारण के समय पूर्व–पूर्व वर्णों का ध्वंश होता है, लेकिन उन वर्णों के अनुभव का संस्कार वर्तमान रहता है। और वह पूर्व–पूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण का संस्कार मिलकर अर्थ ज्ञान कराते हैं। इसी को मम्मट ने बताया है कि– अल्पावयवी द्रव्य विशेष को वताने वाले, "डित्थ, डवित्थ, चैत्र, मैत्र, देवदत्त, राम, श्यामादि जो संज्ञा शब्द हैं उनमें जाति, गुण, क्रिया बोधक शब्दों की अपेक्षा चार प्रकार की न्यूनताएँ होती हैं।

१. कल्पितत्व, **२.** यदृक्षात्मकत्व, **३.** अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यत्व, **४.** संहृतक्रमत्व।

१. वक्ता अपनी कल्पना से ऐसे शब्दों का निर्धारण करता है। जो प्रयोगादि न होते हुये भी वस्तु विशेष के बोध कराने में संज्ञा बनते हैं। यथा– डित्थ, डवित्थ।

२. वक्ता अपनी इच्छा से द्रव्य के लिये शब्दों का प्रयोग करता है। यथा– धनहीन के लिए धनपति, कायर के लिये वीरेश्वर आदि।

३. इसमें पूर्व–पूर्व वर्णों को सुनने पर शब्दों का संस्कार बुद्धि में

बनता जाता है। और उन पूर्व वर्णों के अनुभव का संस्कार जब अन्तिम वर्ण के अनुभव से सहकृत (मिलना) होता है। तो पिण्ड विशेष के लिये प्रयुक्त होने की स्मृति के बल पर उस पिण्डार्थ का ज्ञान होता है। उस यदृक्षारूप उपाधि से व्यक्ति (वस्तु, द्रव्य, पिण्ड) आदि का बोध होता है। यदृक्षात्मक उपाधि से संकेतग्रह कैसे होता है, इसके लिये उपमानरूप से वस्त्र को प्रस्तुत किया जाता है। वस्त्र देखते समय वस्त्र की प्रतीति क्रमशः होती है। जितना वस्त्र देख जायेगा उतना ही स्पष्ट प्रतीत होगा। इसी प्रकार क्रमशः अन्तिम वर्ण ज्ञान के अनन्तर अर्थ प्रतिभाषित हो जाता है।

४. संह्रतक्रम का अभिप्राय है क्रम की शून्यता। अर्थात् जाति, गुण, क्रिया उपाधियों में पहले उपाधि का ज्ञान होता है। बाद में उपधेय अर्थात् उपाधिधारी का ज्ञान होता है। लेकिन यदृच्छात्मक उपाधि का अर्थ ही होता है कि–"इस शब्द से इसको व्यवह्रत करूँगा"। इस प्रकार की जो भी व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा है, उसे यदृच्छा कहते हैं। अतः इस से उपाधि और उपाधिधारी के ज्ञान का कोई क्रम न होकर सीधे शब्द सुनने के अनन्तर उपाधिधारी का ही ज्ञान होता है। अतः इसे क्रमशून्य उपाधि माना जाता है।

इस प्रकार वस्तु का प्राणप्रद धर्म जाति है। विशेष का आधान कराने वाला गुण है। ये दोनों सिद्ध उपाधि कहे जाते हैं। साध्य उपाधि क्रिया रूप है। व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से आरोपित उपाधि यदृच्छा उपाधि कही जाती है। इस प्रकार शब्द चार प्रकार के अर्थो का प्रवृत्ति निमित्त वनता है। इसी के समर्थन में मम्मट यहाँ महाभाष्याकार पतञ्जलि का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

गौः = जाति, शुक्लः = गुण, चलः = क्रिया, डित्थ = यदृच्छा, ये चार प्रकार की उपाधि होने से शब्द भी जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य रूप होते है।

परमाण्वादीनामिति– पूर्वोक्त रीति से गोत्वादि जो धर्म हैं, उन्हें प्राणप्रद धर्म माना जाता है। और प्राणप्रद धर्म जाति रूप होता है।

इस प्रकार 'परमाणु' में रहने वाला परमाणुत्व रूप प्राणप्रद धर्म जाति रूप है। किन्तु नैयायिकों ने उसे गुणरूप माना है। इसी का समाधान करते हुए वृत्तिग्रन्थ में कहा गया है कि नैयायिकों द्वारा परमाणु का गुणमध्य पाठ से उसका पारिभाषिक गुणत्व ही स्वीकार किया गया है। वस्तुतः वह जाति रूप ही है। यथा–अणु शब्द परिमाण का बोधक है। अणु को ही परमाणु कहा जाता है। आदि शब्द से परममहत् का ग्रहण होता है। जिससे छोटा अन्य कोई नही है, उसे अणु, और जिससे बड़ा कोई नही है उसे परममहत् कहा जाता है। दोनों ही परिमाण (नाप) के बोधक हैं। लेकिन परमाणु शब्द द्रव्य के लिये भी प्रयुक्त होता है। जैसे– पृथ्वी परमाणु, जल परमाणु आदि। इस प्रकार परमाणु शब्द द्रव्य का वाचक होने के कारण जाति प्रवृत्तिनिमित्तक सिद्ध होता है। तब नैयायिक इसे गुण कैसे मानते हैं। इसके समाधान में कहा कि उसका पारिभाषिक गुणत्व है। वस्तुतः वह (परमाणु) द्रव्य रूप ही है। पारिभाषिक गुणत्व सिद्धि का प्रकार निम्न है। दो परमाणुओं से एक द्वयणुक की सिद्धि होती है। और तीन द्वयणुकों से एक त्रसरेणु उत्पन्न होता है। द्वयणुक पर्यन्त पदार्थ महत्व और रूप का अभाव होने के कारण अप्रत्यक्ष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान में महत्व और रूप को कारण माना है। त्रसरेणु में महत्व के उत्पन्न हो जाने के कारण, इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होात है कि त्रसरेणु में उद्भूत महत्व के प्रति समवायि और असमवायि कारण कौन है। इसके उत्तर में यह समाधान दिया जाता है कि– त्रसरेणुगत महत्व के प्रति त्रसरेणु द्रव्य ही समवायि कारण है। तथा द्वयणुकगत् संख्या असमवायि कारण है। यहाँ पर यदि परमाणु या द्वयणुक में वर्तमान परिमाण को कारण रूप में स्वीकार करेंगे तो त्रसरेणु में वर्तमान परिमाण के प्रति परमाणु अथवा द्वयणुक में वर्तमान परिमाण ही असमवायि कारण मानना पड़ेगा। द्वयणुकगत संख्या असमवायि कारण नहीं हो सकती। इस स्थिति में अणु (परमाणु) का गुणों के अन्तर्गत सन्निवेश ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रयोजन को सिद्धि नहीं करता।

इसी प्रकार "द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा

किञ्चिद्धर्मावच्छेद्या, कारणतात्वात्" इत्यनुमाने द्रव्यकर्मभिन्न में गुणत्व जाति साधित होती है। रूपादि में तो गुणत्व जाति संयुक्त समवेतसमवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ही प्रतीत होती है। लेकिन अतीन्द्रियरूपादि में प्रत्यक्ष प्रतीति सम्भव न होने के कारण साधारणत्व सिद्ध न होने के फलस्वरूप अनुमान का आश्रय लिया जाता है। इसी प्रकार "पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्" इस कारिका में भी पारिमण्डल्य रूप अणुपरिमाण का कारणत्व स्वीकार नहीं किया गया। इसी लिये मम्मट ने परमाणु में परिभाषिक गुणत्व अर्थात् औपचारिक गुणत्व मानते हुये उसे द्रव्य रूप में ही स्वीकार किया है। अतः परमाणु जाति–प्रवृत्तिनिमित्तक ही है। यहाँ पर जातिवाधक शांकर्य के निराकरण हेतु पृथिवीत्वव्याप्यपरमाणुत्वजाति स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होगा।

"गुणक्रियायदृच्छानां" इस पंक्ति को उत्तर पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रश्नपक्ष यह है कि–पूर्व में यह बताया गया है कि यदि व्यक्ति में संकेत माना जायेगा तो आनन्त्य और व्यभिचार दोष होंगे। इस प्रकार यदि गुण, क्रिया और द्रव्यत्व में संकेत माना जायेगा तो उक्त दोष होंगे। क्योंकि बर्फ दूध, शंख आदि में दिखाई पड़ने वाली धवलता, चावल पाक आदि की क्रिया तथा भिन्न–भिन्न व्यक्ति में द्रव्यत्व भिन्न है। अतः सभी के लिये अलग–अलग संकेत मानने होंगे।

इसके समाधान हेतु उक्त वृत्तिग्रन्थ में उल्लेख करते हुये समाधान किया है कि जैसे–एक मुख, तलवार, दर्पण, तैल, जल आदि में आश्रय भेद से भिन्न–भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः मुख में कोई भिन्नता नहीं होती है। उसी प्रकार गुण, क्रिया और द्रव्यत्व में कोई भिन्नता नहीं होती है। अर्थात् शंख, दूध, बर्फ आदि का धवलत्व एक ही है। सभी पाक क्रियाएँ तथा सभी द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व एक ही है। अतः आनन्त्य और व्यभिचार दोष की शंका निर्मूल है।

जाति में संकेत "जातिरेव"

वैयाकरणों तथा उनके अनुयायी आलंकारिकों के मत में जात्यादि उपाधियों में शब्द का संकेत माना जाता है। लेकिन मीमांसक उपाधि में संकेत न मान कर जाति मात्र में संकेत मानते है। इसी का निरूपण आगे किया गया है।

मीमांसकों के मत को उद्धृत करने से पूर्व उनके जातिविषयक सिद्धान्त को जानलेना उचित होता है। जाति का अर्थ है सामान्य, अर्थात् "सामान्यं जातिः" इसके दो लक्षण मिलते है। पहला है "अनुवृत्ति प्रत्यय हेतुः सामान्यम्" अर्थात् एकाकार प्रतीति का हेतु सामान्य है। दूसरे में "नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्"। इन दोनों ही लक्षणों के अनुसार किसी भी वस्तु में भेद की प्रतीति न होने का मुख्य आधार वह वस्तु नहीं है, उसका धर्म (सामान्यत्व) है। जिसके कारण परस्पर भिन्न–भिन्न वस्तुओं में एकाकार प्रतीति होती है। इस प्रकार हिम, दूध शंख आदि में वर्तमान धवलता वस्तुतः भिन्न है, लेकिन उन भिन्न–भिन्न धवलताओं में जो धवलत्व सामान्य है, उसी के कारण एकाकार (अभिन्न) प्रतीति होती है। अतः यदि धवलता में शब्द का संकेत माना जायेगा तो आनन्त्य व्यभिचार दोष होंगें। इसीलिये धवलत्व सामान्य अर्थात् जाति सामान्य में ही संकेत मानना चाहिये। जो कि सभी में सामान्य रूप से प्रतीत होता है। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न द्रव्यों की पाक क्रिया भिन्न है। लेकिन पाकत्व सामान्य सर्वत्र समान रूप से अनुगताकार प्रतीति का हेतु है। अतः पाकत्व सामान्य में ही संकेत माना जायेगा। तीसरा उदाहरण शब्द और अर्थ का है। बाल, वृद्ध तथा शुकादि पक्षियों द्वारा बोले गये शब्दों और उनके अर्थों में भेद प्रतीति स्पष्ट है, लेकिन उनमें वर्तमान डित्थत्वादि सामान्य है। अतः जाति रूप डित्थत्वादि में ही संकेत मानना चाहिये। यद्यपि यदृच्छा शब्द एक व्यक्ति के ही वाचक होते है। अतः उन यदृच्छा शब्दों में जाति कल्पना करना कठिन है। तथापि बाल वृद्ध शुकादि के उच्चारण भेद से उनमें भेद माना जाता है। इसी प्रकार "प्रतिक्षणपरिणामिनों हि सर्वे भावाः ऋते चितिशक्तेः" इस नियम के अनुसार केवल आत्मा को छोड़कर सबकुछ प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तन शील है। अतः वाच्यार्थ व्यक्तियों में भी भेद होने से यदृच्छा शब्दार्थ

में जाति की सिद्धि होती हैं। इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार जाति–सामान्य में संकेत माना जाता है।

"तद्वान" (नैयायिकों के मत में संकेत)

नैयायिक न केवल जाति में संकेत शब्द का मानते हैं और न हीं व्यक्ति में मानते हैं। क्योंकि–केवल जाति में शब्द का संकेत मानने से जाति मात्र का ही ज्ञान होगा, व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो पायेगा। जैसाकि नियम है–"शाब्दी हि आंकाक्षा शब्देनैव पूर्यते"। अतः आक्षेप करने पर भी आक्षेप से प्राप्त अर्थ शाब्दबोध में अन्वित नहीं हो पाता। इसी प्रकार यदि शब्द का संकेत व्यक्ति में मानेंगे तो आनन्त्य और व्यभिचार दोष होंगे, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। अतः तद्वान अर्थात् जातिमान् (जाति से युक्त व्यक्ति) में संकेतग्रह माना जाना चाहिये।

अपोह (बौद्ध मत)

क्षणभङ्गवादी बौद्धों के मत में सामान्य में नित्यता न होने के कारण अपोह से ही अनुगत व्यवहार हो सकता है। अतः अपोह में ही संकेतग्रह शब्द का माना जाना चाहिये। इनके अनुसार जाति अदृष्ट है अतः वह व्यवहार का विषय नहीं बन सकती। तथा व्यक्ति के क्षणिक होने के कारण दोनों में संकेत सम्भव नहीं है। अतः शब्दों का "अतद्व्यावृत्ति" या "तद्भिन्नभिन्नत्व" में ही संकेत माना जा सकता है। आशय यह है कि गौ शब्द कहने से जो अनुगताकार प्रतीति होती है वह गौ से भिन्न जगत की वस्तुओं से भिन्न में ही होती है। अतः शब्द के द्वारा अन्य से भिन्न में ही संकेत होता है।

उपयुर्क्त नैयायिक तथा बौद्ध मत मम्मट के अनुसार काव्यशास्त्र के लिये सर्वथा अनुपयोगी है। अतः निरर्थक ग्रन्थविस्तार को ध्यान में रख कर विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

(सूत्र–११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभि–धोच्यते।। ८।।

स इति साक्षात्संकेतितः। अस्येति शब्दस्य।।

साक्षात्संकेतित—लक्षणाव्यंञ्जनादि अर्थो का आधारभूत जो मुख्य अर्थ है, उस मुख्यार्थ की प्रतीति में शब्द का जो मुख्य व्यापार है, उसे अभिधा व्यापार कहते है। पूर्व सूत्र (६) में चेष्टा आदि से प्रतीत होने वाले अर्थ का ग्रहण न किया जाय, इसलिये बताया गया था कि "इस शब्द से यह अर्थ लिया जाय"। इस प्रकार का ही अर्थ मुख्यार्थ या शब्द का संकेतितार्थ कहा जायेगा। अर्थ का शाब्दत्व तभी माना जाता है जब उसकी प्रतीति में शब्द का व्यापार हो। अतः "वृत्या पदजन्यपदार्थोपास्थितिः शाब्दबोधेकारणम्" इस नियम के अनुसार संकेतितार्थ को बोधित कराने में जो व्यापार होगा वह शब्द का प्रथम व्यापार अमिधा व्यापार कहलायेगा। वह व्यापार शब्द के मुख्यार्थ का बोध कराने के कारण मुख्य व्यापार भी कहा जाता है। एवं अभिधीयते अर्थ अनेनेति अभिधानं शब्दः" तस्यार्थः—अभिधेयार्थः, तत्र शब्दार्थबोधने यः व्यापारः स अभिधा व्यापारः"। शब्द का यह मुख्य व्यापार तात्पर्याख्या, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार का उपजीव्य या आधार होता है।

(सूत्र–१२) **मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।**

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। ६।।

कर्मणि कुशलः "इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गयां घोषः" इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रूढ़ितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादिनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्योअर्थोलक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

वाचक शब्द, वाच्यार्थ (संकेतितार्थ) और उस वाच्यार्थ की प्रतीति में होने वाले शब्द के अभिधा व्यापार का निरूपण करने के अनन्तर क्रम प्राप्त लाक्षणिक शब्द के लक्षणा व्यापार का निरूपण किया जा रहा है। लक्षण व्यापार की आवश्यकता वहीं होती है जहाँ अभिधा

व्यापार से तात्पर्य (अभिप्राय) न ज्ञात हो सके। जैसे--किसी ने अपने सेवक को कहा कि कौवे से दही की रक्षा करना। यहाँ कौवा शब्द पक्षी विशेष का ही अभिधा व्यापार से ज्ञान करायेगा। सेवक भी शब्द का मुख्यार्थ लेकर कौवे से ही दही की रक्षा करता रहा। चूँकि स्वामी ने अन्य से दही की रक्षा करने को नहीं कहा था, अतः बिल्ली आदि अन्य जो दही खाने वाले जीव हैं उनसे सेवक ने दही की रक्षा नहीं की। इस प्रकार मात्र शब्द का मुख्यार्थ लेने के कारण स्वामी के दधि–रक्षारूप तात्पर्य की सिद्धि नहीं हुयी। यदि यहाँ पर सेवक ने कौवा शब्द के मुख्यार्थ को छोड़कर दही खाने वाले सभी जीवों को कौवा शब्द से लिया होता, तो दधि की रक्षा हो जाती। लेकिन कौवा शब्द सभी दधि खाने वालो का वाचक नहीं है। अतः ऐसे स्थलों में समान कार्य करने वालों के ग्रहण के लिये हमें लक्षणा व्यापार की आवश्यकता होती है। प्रायः वाच्यार्थ से सम्बन्धित पाँच प्रकार के स्थलों में लक्षणा की आवश्यकता होती है। सामीप्य सम्बन्ध, सारूप्य, समवाय, वैयरीत्य, तथा क्रिया सम्बन्ध।

१. **मुख्यार्थबाधे**-- शब्द का मुख्यार्थ (अभिधा व्यापार द्वारा ज्ञात संकेतितार्थ) बाधित हो जाय या अनुपन्न हो जाय। जैसे कौवे मात्र से दधि रक्षा में दधि का बिल्ली आदि द्वारा न वच पाना। यहाँ कौवा मात्र अर्थ जो मुख्यार्थ है वह दधिरक्षण में अनुपन्न हो गया है।

२. **तद्योगे**– मुख्यार्थ वाध के अनन्तर ज्ञात होने वाले अर्थ का मुख्य अर्थ से सम्बन्ध रहे। जैसे--दूसरा अर्थ है दही को खाने वाले और यह गुण (क्रिया) कौवे के समान बिल्ली, गिद्ध आदि में भी है।

३. **रूढ़ितोऽथप्रयोजनात्**-- जो शब्द मुख्यार्थ बाध के बाद ज्ञात हो वह या तो लोक में प्रसिद्ध हो। अथवा उस अर्थ का कोई प्रयोजन हो। जैसे यहाँ पर दधि रक्षा प्रयोजन या फल है।

उपयुर्क्त तीनों हेतु जहाँ किसी पद या वाक्य में वर्तमान हो वहाँ मुख्यार्थ से भिन्न द्वितीयार्थ (लक्ष्यार्थ) की प्रतीति में शब्द का जो व्यापार होता है, उसे सिद्ध व्यापार (अभिधा) से भिन्न आरोपित लक्षणा

व्यापार या क्रिया कहते है। लक्षणाक्रियार्थ का बोध कराने वाला शब्द लाक्षणिक और लक्षणाव्यापार तथा अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में यह निश्चित हुआ कि लक्ष्यार्थ ज्ञान के लिये तीन हेतु होना आवश्यक है।

१. मुख्यार्थबाध– मुख्यार्थ की असिद्वि।

२. मुख्यार्थ से प्रतीत होने वाले अर्थ का सम्बन्ध।

३. रूढ़ि–लोक प्रसिद्धि, अथवा प्रयोजन में से कोई एक।

उदाहरण– (रूढ़ि का) "कर्मणि कुशलः" अर्थात् चित्रकर्म में कुशल है। इस प्रयोग में प्रयुक्त कुशल शब्द अभिधा व्यापार द्वारा दर्भ (कुश) लाने में शक्त (समर्थ) है, लेकिन यहाँ पर चतुर अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ पर कुशल शब्द का चतुर अर्थ में प्रयोग लोक प्रसिद्धि के कारण किया गया है। क्योंकि लोक में कुशल शब्द चतुर अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। इस प्रकार लक्षणा के लक्षण के अनुसार कुशल शब्द का मुख्यार्थ दर्भ ग्रहण अनुपपन्न हो गया। लेकिन दूसरा अर्थ मुख्यार्थ प्रतीति के अनन्तर ही प्रतीत हुआ तथा लोक में प्रसिद्धि भी है। अतः द्वितीय अर्थ यहाँ लक्षणा से प्रतीत हुआ माना जायेगा।

उदाहरण – (प्रयोजन का) "गंगायां घोषः" गंगा में झोपड़ी। इस प्रयोग में गंगा शब्द सप्तम्यन्त (सप्तमी विभक्ति) है। और घोष प्रथमान्त है। सप्तमी विभक्ति अधिकरण बोधिका है और प्रथमा विभक्ति आधेय बोधिका है। अर्थ हुआ गंगा में झोपड़ी। लेकिन गंगा शब्द का प्रवाह (जल धारा) अर्थ होने के कारण धारा में झोपड़ी होना सम्भव नहीं है। अतः अभिप्राय की सिद्धि के लिये गंगा शब्द का मुख्यार्थ (अभिधेयार्थ) जो प्रवाह रूप है, उसे छोड़कर प्रवाह के समीप स्थित तट रूप अर्थ लिया जायेगा। इस प्रकार लक्षणा के लक्षण के अनुसार गंगा शब्द का मुख्यार्थ प्रवाह बाधित हो गया। क्योंकि उसमें झोपड़ी नहीं हो सकती। मुख्यार्थ से भिन्न दूसरा अर्थ है तट, जिसका प्रवाह से सम्बन्ध है। तीसरे हेतु के रूप में यहाँ पर प्रयोजन है, जिसे

ध्यान में रखकर वाक्य का प्रयोग किया गया है। और वह प्रयोजन है झोपड़ी में गंगा की शीतलता और पवित्रता आदि गुणों को प्राप्त करना जो समीपस्थ तट में विद्यमान है। अतः यहाँ गंगा पद से तट रूप अर्थ लक्षणा द्वारा प्रतीत हुआ।

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में प्रथम उदाहरण "कर्मणि कुशलः", जिसका प्रयोग चित्रकर्म के सन्दर्भ में किया गया है। अतः वहाँ कुशल शब्द दर्भ (कुश) अर्थ के लिये अयुक्त है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण "गंगायां घोषः" है। जिसका अर्थ गंगा में झोपड़ी है। लेकिन झोपड़ी का आधार गंगा हो नहीं सकती, अतः सामीप्य सम्बन्ध से गंगा के गुणों से भरपूर गंगा पद से तट रूप अर्थ लिया जाता है। यहाँ पर कुशल तथा गंगा, ये दो शब्द अभिधा से अपने–अपने संकेतित अर्थ का बोध कराने के बाद तीनों पूर्वोक्त हेतुवों से चतुर तथा प्रवाह रूप अर्थ का ज्ञान लक्षणा से कराते हैं। यहाँ पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वक्ता ने "गंगा तटे घोषः" यह वाक्य क्यों नहीं कहा ?

उक्त वाक्य कहने से वक्ता के प्रयोजन की प्रतीति नहीं हो पायेगी। क्योंकि तट शब्द के प्रयोग से विस्तृत अर्थ गृहीत होगा। जैसे गंगा के तट में वाराणसी है। इस वाक्य से सम्पूर्ण वाराणसी नगर का अधिग्रहण होगा। जबकि सम्पूर्ण वाराणसी शहर में गंगा के गुण न होकर धारा के समीप स्थित तट में ही होंगे। जैसा कि वक्ता का अभिप्राय है। इसीलिये कहा कि, "गंगा तटे घोषः" इस मुख्य वाक्य के प्रयोग से जिसे गंगा के गुणों की प्रतीति न हो पाये उनके लिये शैत्यपावनत्वरूप धर्मों का ज्ञान कराने के लिये, जो कि यहाँ प्रयोजन है, मुख्य गंगा शब्द से जिस व्यापार द्वारा अमुख्य (आरोपित) तट रूप अर्थ लक्षित होता है। वह आरोपित शब्द व्यापार मुख्यार्थ–बाधादि के बाद होने वाला अर्थनिष्ठ लक्षणा व्यापार कहा जाता है।

लक्षणा के भेद– मम्मटाचार्य लक्षणा के छः भेद ही मानते हैं। जिनमें चार (४) भेद शुद्धालक्षणा के और दो (२) भेद गौणी लक्षणा के। शुद्धा के चार भेदों में १. उपादान लक्षणा, २. लक्षण लक्षणा, ३.

सारोपालक्षणा, ४. साध्यवसाना लक्षणा

गौणी लक्षणा के दो भेदों में १. गौणी सारोपा, २. गौणी साध्यवसाना।

(सूत्र–१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। १०।।

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरूषा आक्षिप्यन्ते। तत उपादानेनेयं लक्षणा।

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मेस्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्यैवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा।

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्।

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम् तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

जहाँ पर वाच्यार्थ अपनी अन्वयसिद्धि के लिये अपने से भिन्न (पूर्व

लक्षण के अनुसार लक्ष्यार्थ) अर्थ का ग्रहण करता है। तथा पर अर्थ (शक्यार्थ से भिन्न) की सिद्धि के लिये अपने मुख्यार्थ का समर्पण (परित्याग) करता है, वहाँ उपादान और लक्षण लक्षणा नाम की शुद्धा लक्षणा होती है।

उपादान लक्षणा का उदाहरण– "कुन्ता प्रविशन्ति", "यष्टयः प्रविशन्ति" यह उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं। भाला प्रवेश कर रहें है। दण्ड (छड़ी) प्रवेश कर रहें हैं। यह दोनों वाक्यों का अर्थ हैं। भाला और डण्डे (यष्टिका) दोनों अचेतन हैं। प्रवेश करना चेतन का धर्म है। अतः प्रवेश क्रिया दोनों से नहीं हो सकती। परिणमतः भाला और यष्टिका का प्रवेशन क्रिया के साथ अन्वय नहीं हो पाने के कारण वाक्य में दोनों असिद्ध हो जायेंगे। अर्थात् मुख्यार्थ बाधित हो गया। और उसको धारण करने वाले पुरूष से योग है। अतः अपनी सिद्धि के लिये दोनों भाला और यष्टिका धारण करने वाले पुरूषों का आक्षेप करेंगे तभी अन्वय सिद्ध होगा। अर्थात् विशेषणीभूत कुन्त पुरूष विशेष्य को लक्षित करेगा। इस प्रकार कुन्तधारी तथा यष्टिकाधारी पुरूष प्रवेश कर रहें है, यह अर्थ होगा। यहाँ पर कुन्त और यष्टिका के मुख्य अर्थ के बाधित हो जाने पर दोनों ने अपनी अन्विति के लिये अपने से सम्बन्धित पुरूषों का उपादान – किया है। अतः यहाँ उपादान लक्षणा होगी।

उपादान लक्षणा का स्वरूप निर्धारित होने के अनन्तर मीमांसकों के उपादानलक्षणा के उदाहरण "गौरनुबन्ध्यः" में अव्याप्ति को बताते हैं। मम्मट के अनुसार इस प्रयोग (वाक्य) में मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं में से रूढ़ि अथवा प्रयोजन रूप दोनों में से किसी एक के न होने के कारण इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। यहाँ जाति से व्यक्ति का ज्ञान अनुमान (आक्षेप) से होता है। क्योंकि दोनों में अविनाभाव (नित्य) सम्बन्ध है।

"गौरनुबन्ध्यः" इस वाक्य में श्रुति (वेद) विहित गौ का (गो व्यक्ति का) बन्धन कैसे हो सकता है। गौ शब्द का अर्थ गोत्व जाति है। जाति का बन्धन नहीं हो सकता है। अतः गौ शब्द अपनी सिद्धि के

लिये व्यक्ति का आक्षेप करता है। गौ व्यक्ति रूप अर्थ अभिधा से ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि अभिधा जाति रूप विशेषण का बोध कराकर विरत–व्यापार हो जाती है। अतः यहाँ पर कुन्ताः प्रविशन्ति की तरह लक्षणा मानी जाय।

मम्मट उक्त तर्क को नहीं मानते। वे कहते हैं कि इस तर्क से यहाँ गोरनुबन्ध्यः में उपादान लक्षणा नहीं हो सकती है। क्योंकि लक्षणा के तीसरे हेतु रूढ़ि अथवा प्रयोजन दोनों में से एक भी यहाँ नहीं है। तथा व्यक्ति और जाति का अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण व्याप्ति रूप होने से अनुमान से ही (यत्र–यत्र जातिः तत्र–तत्र व्यक्तिः) व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है। येन विना यन्न तिष्ठति तदविनाभावः। अर्थात् जिसके बिना जो न रहे। जैसे जाति बिना व्यक्ति के, अग्नि बिना दाहकता के, धूम बिना अग्नि के नहीं रह सकते, अतः इनमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

विशेष जानकारी के लिये सन्दर्भ प्ररूतुत किया जा रहा है।

ज्योतिष्टोम याग के पाँचवे दिन सवनीय पशु अनुष्ठान के अनन्तर "मैत्रावारूणीवशामालभेत" इस श्रुति के अनुसार आनुबन्ध्य याग का विधान किया जाता है। इसी याग का विधायक वाक्य है, "गौरनुबन्ध्यः"। यहाँ पर गौ द्रव्य है तथा मित्रावरूण देवता हैं। यहाँ पर गौ शब्द से गोत्व जाति का ज्ञान होता है अभिधावृत्ति से। जाति से क्रिया का सम्पादन नहीं हो सकता। और आकृत्याधिकरणन्याय से" विशेष्यं नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इस नियम के अनुसार अभिधा जाति का बोध कराने के बाद व्यक्ति का बोध नहीं करा सकती। अतः जैसे कुन्त शब्द से धारण करने वाले पुरूष का ज्ञान होता है। उसी प्रकार यहाँ पर जाति से व्यक्ति का ज्ञान उपादान लक्षणा द्वारा हो, यह अभिप्राय है। समाधान पहले ही निरूपित किया जा चुका है। यहाँ पंक्ति में आये प्रथम आक्षेप शब्द का लक्षित होना तथा द्वितीय आक्षेप का अर्थ अनुमित होना अर्थात् लक्ष्यते, अनुमीयते है।

यथा–

उदाहरण–"क्रियताम्" इस क्रियापद का अर्थ है "करो", और वह यत्नरूप है। "कृतिः साश्रया गुणत्वात्" इस नियम से कर्ता का अनुमान होता है। "कुरू इस क्रियापद में "कृतिः सविषया कृतित्वाद्" इस नियम से कर्म का अनुमान होता है। अर्थात् "त्वया–क्रियताम्–कटं कुरू" वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। ये दोनों उदाहरण अर्थाध्याहार के हैं। इसी प्रकार शब्द अध्याहार के दो उदाहरण दे रहे हैं।

"प्रविश" प्रवेश करो इस क्रिया पद से "गृहम्" कर्म का अध्याहार होता है।

"पिण्डीम्" इस कर्म से "भक्षण" इस क्रिया का अध्याहार होता है। उक्त दोनों उदाहरण भट्ट मत से हैं। इसके पहले के दोनों उदाहरण प्रभाकर मत से हैं।

अब प्राशस्त्यलक्षणावादियों के मत को उपस्थित करके उसका खण्डन करते हैं।

"पीनोऽयं देवदत्तःदिवा न भुङ्क्ते"। मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता।

यहाँ दिन में भोजन के निषेध से रात्रि भोजन का ज्ञान लक्षणा से नहीं होता। अपितु श्रुतार्थापत्ति प्रमाण अर्थार्थापत्ति प्रमाण से ही रात्रि भोजन का ज्ञान हो जाता है। यतः पीनत्व (मोटा होना) बिना भोजन के सम्भव नहीं है। और दिन में भोजन का निषेध हैं। अतः रात्रि भोजन की प्रतीति यहाँ अनुपपन्नता से ही हो जाती हैं। जहाँ श्रुत शब्द अथवा अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति हो वहाँ अर्थापत्ति, और अनुपद्यमान शब्द, शब्दान्तर का बोध कराये वहाँ शब्दार्थापत्ति माना जाता है।

लक्षणलक्षणा का उदाहरण–

जहाँ पर परार्थ की सिद्धि के लिये मुख्य अर्थ अपने को त्याग देता है वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। जैसे "गंगायां घोषः" "गंगा में

झोपड़ी"। यहाँ गंगा का अर्थ प्रवाह है। और गंगा पद में सप्तमी विभक्ति होने के कारण वह झोपड़ी का आधार बनेगा। लेकिन प्रवाह अस्थिर धर्म वाला होने के कारण झोपड़ी का आधार नहीं बन सकता। अतः गंगा शब्द अपने मुख्य अर्थ प्रवाह को छोड़कर झोपड़ी का आधार बनाने वाले "तट" अर्थ का ज्ञान कराता है। इस प्रकार परार्थ को लक्षित कराने के फलस्वरूप यहाँ लक्षणलक्षणा होती है।

उक्त दोनों प्रकार की उपादान लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा उपचाररहित होने के कारण शुद्धा लक्षणा कही जाती है।

उपचार का अभिप्राय है– अत्यन्त भिन्न–भिन्न पदार्थों में गुण क्रिया आदि की समानता की अधिकता से भेद की प्रतीति न होना उपचार कहलाता है। जैसे– गौर्वाहीकः में गौ और वाहीक में गौ पशु है, और वाहिक पंजाब देश का निवासी व्यक्ति है। दोनों भिन्न–भिन्न है तथापि जड़ता मन्दता के कारण दोनों में अभिन्नता की प्रतीति होने के कारण उपचार माना जाता है।

मम्मटाचार्य ने शुद्धालक्षणा को उपचार से रहित और उपचार से युक्त गौणी लक्षणा का स्वरूप बताया है। लेकिन मीमांसक मुकुलभट्ट इससे भिन्न मत स्थापित करते हैं। उनके मत में जहाँ शक्यार्थ लक्ष्यार्थ में भेद प्रतीति हो वहाँ शुद्धा लक्षणा और जहाँ दोनों में भेद प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा होगी। यथा– "गंगायां घोषः" इस वाक्य में सप्तम्यन्त गंगा पद और प्रथमान्त घोष पद का परस्पर सामानाधिकरण सिद्ध नहीं हो पाता। क्योंकि सप्तमी विभक्ति अधिकरण बोधिका है और प्रथमा विभक्ति आधेय बोधिका है। अतः दोनों में भेद की प्रतीति होती है।

"गौर्वाहीकः" इस वाक्य में गौ और वाहीक दोनों प्रथमान्त होने के कारण दोनों में सादृश्य सम्बन्ध होने के फलस्वरूप समानाधिकरण– (गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणवदभिन्न जाड्यमान्द्यादिगुणवान् वाहीकः) सिद्ध हो जाता है। और यही शुद्धा गौणी लक्षणा का भेदक हेतु है। लेकिन मम्मट इस तर्क को निरस्त करते हुये "अनयोः–" से उचित पक्ष

प्रस्तुत करते है। यथा–

शुद्धा गौणीरूप दोनों लक्षणाओं में जो भेदक हेतु बताया गया है, वह सार्थक नहीं है। अर्थात् वह भेदक (भेद बोधक) नहीं है। क्योंकि जब हम तट का ज्ञान गंगा पद से कराते हैं तो गंगातटाधिकारणकः घोष" इस अर्थ की प्रतीति होती है। जिस अर्थ के ज्ञान के लिये वक्ता "गंगातटे घोषः" न कह कर "गंगायां घोषः" कहता है तो वहाँ वक्ता के किसी तात्पर्य विशेष की प्रतीति होती है। और वह तात्पर्य विशेष है गंगा के गुणों की घोष में प्रतीति कराना। इस प्रकार यहाँ भी गंगागत शैत्यपावनत्वगुणाभिन्नगुणवानघोष" इस प्रकार की अभिन्न प्रतीती होती है। अतः मुकुलभट्ट का तर्क यहाँ सार्थक नहीं हो पाता।

मूलवृत्ति का अर्थ–

अनयोः–शुद्धागौणीलक्षणा में लक्ष्य और लक्षक का भेद बताने वाला जो ताटस्य–भेदक मुकुलभट्ट बताते हैं, वह नहीं है। क्योंकि तटादिकों को जब गंगादि शब्दों से बताया जायेगा तभी शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अभेद प्रतीति होगी। और दोनों में अभेद प्रतीति के अनन्तर वक्ता के प्रयोजन का ज्ञान होगा। यदि तट का गंगा से सम्बन्ध मात्र ज्ञान कराना उद्‌देश्य है तो मुख्य शब्द "गंगातटे घोषः" और "गंगायां घोषः" इन दोनों वाक्यों में कोई भेद नहीं रह जायेगा। अर्थात् अभिधा और लक्षणा में कोई भेद नहीं रह जायेगा। इस प्रकार "उपचार से रहित शुद्धा और उपचार से युक्त गौणी लक्षणा" यह मम्मट द्वारा निर्धारित दोनों लक्षणाओं का भेदक तत्व ही उचित है।

***(सूत्र १४)* सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।।**

आरोप्यमाणः, आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा।।

उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा का निरूपण करने के बाद सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का निरूपण करेंगे। जहाँ उपादान और लक्षण लक्षणा शुद्धा ही होती है। वहीं सारोपा और साध्यवसाना

शुद्धा और गौणी के भेद से चार प्रकार की होती है। यथा–

जहाँ पर आरोप्यमाण (विषयी अर्थात् गवादि) और आरोप का आश्रय (विषय–बाहीकादि) समानाधिकरण से अर्थात् समान स्थिति में प्रस्तुत किये गये हों। अर्थात् उपमान और उपमेय को समान रूप से उपस्थित किया गया हो, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है।

आरोप्यमाण है चन्द्र और आरोप का विषय है मुख। जिसमें चन्द्र का आरोप किया जाता है। ये दोनों जहाँ समानाधिकरण से प्रस्तुत हों, अर्थात् एक विभक्ति और एक अर्थ में प्रस्तुत हों, वहाँ सारोपा लक्षणा माननी चाहिये। इसे उपमा अलंकार का बीज भी कहा जाता है।

(सूत्र–१५)

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका।। ११।।

विषयिणारोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे, अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।।

जहाँ पर विषयी के द्वारा विषय को निगीर्ण कर लिया गया हो अर्थात् उपमान के द्वारा उपमेय को अपने में छिपा लिया गया हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। यह रूपकालंकार का बीज है।

(सूत्र–१६) **भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा।**

गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ–

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यामाणा अपि गो शब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति, इति केचित्। स्वार्थ सहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

उक्तञ्चान्यत्र–

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।'

'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम् । एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम् । शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि ।

क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा – इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः । क्वचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा – राजकीयः पुरुषो राजा । क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा – अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः । क्वचित् तात्कर्म्याद्, यथा – अतक्षा तक्षा ।

यह दोनों सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा सादृश्य और उससे भिन्न कार्यकारणभावादि सम्बन्ध से होती है। जहाँ पर सादृश्य सम्बन्ध होगा वहाँ गौणी सारोपा, जैसे– "गौर्वाहीकः" तथा गौणी साध्यवसाना, यथा "गौरयम्" लक्षणा होती है। "गौर्वाहीकः में गौः आरोप का विषय है, अर्थात् उपमान है और वाहीक आरोप का आश्रय है अर्थात् उपमेय है। तथा दोनों समानाधिकरण से उपस्थित हैं। अतः सारोपा लक्षणा है। "गौरयम्" में उपमान के द्वारा उपमेय का निगीर्णन है। अतः यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है।

अभी "गौर्वाहीकः" "गौरयम्" इन दोनों प्रयोगों को गौणी सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लक्ष्यार्थ क्या है और उसकी प्रतीति कैसे होगी ! इसका सामाधान किया गया है। पूर्वपक्ष के रूप में–

"गौर्वाहीकः" इस वाक्य में दो पद है, गौः और वाहीक। गौः से पशु विशेष का ज्ञान होता है, और वाहीक से देश विशेष के निवासी का ज्ञान होता है। दोनों पदों का यहाँ समानाधिकरण से प्रयोग किया गया है। जैसा कि सारोपा लक्षणा के लक्षण के अनुसार यहाँ समानाधिकरण अपेक्षित है। किन्तु गौः और वाहीक के प्राणप्रद धर्म भिन्न होने के कारण दोनों में समानाधिकरण सिद्ध नहीं हो पाता। अतः कैसे इसे सारोपा, साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। क्योंकि गौणीलक्षणा के स्थल में जैसे दोनों पदों का एक विभक्ति घटित होना आवश्यक है। उसी प्रकार दोनो पदों में एकार्थवाचित्व का भी उपपादन आवश्यक है। अतः यहाँ कौन प्रवृत्तिनिमित्त बनेगा, इस विषय में तीन पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। यथा–"अत्राहि"–

"गौर्वाहीकः" इस वाक्य में दो पद है। १. गौः, २. वाहीकः।

"गौ" शब्द गोत्व जाति अथवा गोत्व जाति विशिष्ट गो व्यक्ति का बोध कराता है। वाहीक पद देश निवासी पुरूष का बोध कराता है। यहाँ दोनों अर्थो के परस्पर भिन्न होने के कारण समानाधिकरण सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः समानाधिकरण की सिद्धि के लिये यहाँ भिन्न–भिन्न तीन मत प्रस्तुत किये गये है। तीनों मत केचित्, अन्ये, अपरे, इन वाक्यों के अन्तिम शब्दों द्वारा ज्ञात होते हैं। इन तीनों मतों में से प्रथम मत में–

गो शब्द से अभिधावृत्ति से गोत्व जाति विशिष्ट गोव्यक्ति का ज्ञान होगा। तथा लक्षणावृत्ति से गो में रहने वाले जड़ता मन्दतादि गुणों का ज्ञान होगा। लक्षणावृत्ति द्वारा ज्ञात होने वाले ये गुण पुनः वाहीकार्थ का बोध कराने में प्रवृत्तिनिमित्त बनते हैं। तात्पर्य यह है कि गो पद का गोत्व रूप प्रवृत्तिनिमित्त सिद्ध है। तथा उसके गुण भी लक्षणावृत्ति से ज्ञात होते हैं। प्रकृत वाहीक से समानाधिकरण की सिद्धि हेतु गौ में लक्षणा द्वारा ज्ञात गुण प्रवृत्तिनिमित्त वन कर वाहीक का ज्ञान कराते हैं। क्योंकि जो जाड्यमान्द्यादि गुण गौ में है वही वाहीक में भी हैं। इस प्रकार दोनों में गुणों की समानता के कारण

समानाधिकरण सिद्ध हो जाता है। लेकिन दोनों में समानाधिकरण स्थापन हेतु यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक ही गो शब्द एक प्रवृत्ति निमित्त को लेकर पहले गो व्यक्ति का बोध करायेगा। और इसके बाद स्वयं में लक्षित अर्थ को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर अर्थान्तर का ज्ञान करायेगा यह "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावात्" इस नियम के अनुरूप नही है। तथा लक्षितार्थ वाहीकार्थ में संकेतित नही है। अतः दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते है। "स्वार्थेत्यादिना"– इस पक्ष में "गौ" पद स्वयं में रहने वाले गुणों की लक्षणा द्वारा पहले प्रतीति करायेगा। इसके बाद स्वगुण सदृश वाहीक में रहने वाले गुणों का पुनः लक्षणावृत्ति से लक्षित करेगा। और इस प्रकार लक्षित गुणों को लेकर गौ और वाहीक में समानाधिकरण सिद्ध हो जायेगा। लेकिन यह पक्ष भी समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि गो पद द्वारा पहले अपने गुणों को लक्षित करना और पुनः वाहीक के गुणों को लक्षित करना संगत प्रतीत नहीं होता। अतः तीसरा सर्वसम्मत पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

"साधारणेति" इस पक्ष में गो गत गुणों में और वाहीक गत गुणों में समानता होने के कारण ही दोनों का एक साथ प्रयोग होता है। अतः गो शब्द वाहीक को लक्षित करता है। अर्थात् गो गत जाड्यमान्द्यादिगुण सदृश जाड्यमान्द्यादि गुणवान वाहीक है। इस प्रकार का अर्थ लक्षणा द्वारा गो पद से ही प्रतीत हो जाता है। इस पक्ष में कोई दोष भी नहीं है और यह पक्ष ग्रन्थकार अभिमत भी है।

उपयुर्क्त तीनों मतों में सारांश रूप में जो अभिप्राय प्रतीत होता है उसके अनुसार कुछ लोगों के मत में लक्षणावृत्ति द्वारा गौ में प्रतीत होने वाले जाड्यमान्द्यादि गुण पुनः अभिधावृत्ति से वाहीक का ज्ञान कराते हैं। लेकिन यहाँ अरूचि का हेतु है कि गो पद की वाहीक रूप अर्थ में संकेत नहीं हैं। तथा गौ में लक्षणा द्वारा ज्ञात होने वाले गुण वाहीक का बोध कराने में समर्थ नहीं हैं। अतः यह मत समुचित नहीं हैं।

अन्य लोगों के मत में वाहीक का अभिधा से ज्ञान नहीं होता है।

अपितु वाहीक में रहने वाले गुणों का ज्ञान लक्षणा से होता है। अर्थात् पहले लक्षणा द्वारा गौ के गुणों का ज्ञान होता है। इसके बाद गौ और वाहीक के गुणों में समानता होने के कारण वाहीक के गुणों का ज्ञान लक्षणा से ही होता है। लेकिन यह मत भी समुचित प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि लक्षणावृत्ति पहले गो गत गुणों को लक्षित करे, अनन्तर वाहीक के गुणों को लक्षित करे यह सम्भव नहीं है। तथा जब तक वाहीक का ज्ञान नहीं होगा तब तक उसके गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः तीसरा पक्ष प्रस्तुत कर रहे है।

इस मत में पूर्व से ज्ञात दोनों पदों का एक साथ प्रयोग किया गया है। अतः उभयात्र गुणों की समानता होने के कारण एक साथ प्रयोग होने पर लक्षणावृत्ति से वाहीक की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार समानाधिकरण में कोई बाधा नहीं रह जाती। इस मत को "अपरे" पद की "न परे" अर्थात् स्वयं, इस प्रकार व्याख्या करके मम्मटाभिमत माना जाता है।

तृतीय मत में "परार्थ एव" इस अंश से प्रयुक्त "एव" पद द्वारा वाहीक का बोध कराया गया है। इस तीसरे मत के समर्थन में तन्त्रवार्तिक– कुमारिलभट्ट, की कारिका को प्रस्तुत किया गया है। जिसका आशय है–

अभिधेय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाले गुणों का ज्ञान लक्षणा से होता है। तथा गुणों के योग से होने वाली वृत्ति को गौणी वृत्ति कहते हैं। जैसे "गौर्वाहीकः" इस प्रयोग में दो परस्पर विरूद्ध प्राणप्रद धर्म युक्त दो पदार्थों में गुणयोग को आधार मानकर समानाधिकरण सिद्ध होता है। तथा वाहीकरूप लक्ष्यार्थ की उपस्थिति होती है।

अविनाभाव का अभिप्राय यहाँ सम्बन्ध मात्र से है। व्याप्ति रूप सम्बन्ध से नहीं है। क्योंकि "येन विना यन्न भवति तन्नान्तरीयकम्" इति व्याप्ति रूप सम्बन्ध मानने से "मञ्चाः क्रोशन्ति" यहाँ लक्षणा नहीं हो पायेगी। क्योंकि व्याप्तिसम्बन्ध प्रधान स्थल में अनुमान (आक्षेप) से

ही ज्ञान हो जाता है, लक्षणा की कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी।

अविनाभाव सम्बन्ध के उदाहरण "गौरनुबन्ध्यः" में भी "विशेष्यं नाभिधागच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे" इस न्यायानुसार व्यक्ति में रहने वाले जाति रूप विशेषण को लक्षणागम्य न मान कर अविनाभाव सम्बन्ध के कारण अनुमितिगम्य माना है। उदाहरण के रूप में जैसे क्रिया का कर्ता और कर्म से अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रवेश क्रिया का गृहरूप कर्म के साथ, पिण्डी का खाने के साथ व्याप्ति प्रकारक सम्बन्ध होने के कारण अनुमान (आक्षेप) से ही प्रतीति हो जाती है। महाभाष्य में वाक्य के एक देश (भाग) के प्रयोग को बताया गया है।

इसी प्रकार परार्थ ही लक्षित होता है गुणों के सम्बन्ध के कारण। यहाँ अविनाभाव के उदाहरण के रूप में प्रवाह और तट को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ तट की प्रतीति लक्षणा से होती है। लेकिन नान्तरीयक सम्बन्ध को छोड़कर। नान्तरीयक का उदाहरण जाति और व्यक्ति को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार नान्तरीयक अविनाभाव मात्र में लक्षणा नहीं होगी। सम्बन्धमात्र को बताने वाले अविनाभाव और गुणयोग से सम्बन्द्ध का ज्ञान लक्षणा से ही होता है। इसीलिये "गौर्वाहीकः" में तृतीय मत के अनुसार परार्थ एवं लक्षते, अर्थात् परार्थ वाहीक की ही लक्षणा से प्रतीति होती है। गुणयोग के कारण यहाँ गौणी लक्षणा है।

अपने मत के समर्थन में मम्मट ने भट्टवार्तिक की कारिका प्रस्तुत किया है– "अभिधेयाविनाभाव" इत्यादि। कारिका के पूर्वार्द्ध के अनुसार गंगा पद का अभिधेय है प्रवाह और उससे अविनाभाव (सामीप्य) सम्बन्ध से सम्बन्धित है तट। अतः तट की प्रतीति लक्षणा से होगी। यहाँ अविनाभाव को सम्बन्ध मात्र माना है। क्योंकि नान्तरीयकत्व मानने से मञ्चाःक्रोशन्ति में लक्षणा न होकर आक्षेप से प्रतीति होगी। "गंगायां घोषः" में भी लक्षणा नहीं होगी।

कारिका के उत्तर भाग में गुणों के सम्बन्ध में गौणी वृत्ति मानी गयी है। इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। "गौर्वाहीकः" और

दूसरा "यजमानः प्रस्तरः"। दोनों में गुण साम्य लक्षण से समानाधिकरण सिद्ध होकर वाहीक की प्रतीति जैसे गुणों से होती है। द्वितीय में हविधारण करने के कारण प्रस्तर में भी यजमान बुद्धि होती है। दोनों में अपने–अपने प्रयोजन भी ज्ञात होते हैं। गौणीवृत्ति और उससे ज्ञात विषय के स्वरूप का विवेचन मीमांसा शास्त्रानुसार कुछ मतभेद लिये प्रतीत होता है। मीमांसकों के मत में शब्दार्थ ज्ञान हेतु मुख्य तीन वृत्तियाँ हैं। अभिधा, लक्षणा और गौणी। इनका लक्षणा का लक्षण भी भिन्न है। उदाहरण– "गंगायां घोषः" है "यजमानः प्रस्तरः" में गौणवृत्ति मानी गयी है। प्रस्तर जड़ वस्तु है। उसका चेतन यजमान के साथ समानाधिकरण नहीं हो सकता है। लेकिन महर्षि जैमिनि ने लोक और शास्त्र के विरूद्ध प्रतीति वाले वाक्यों के सन्दर्भ में गुणवाद को प्रतिष्ठापित करते हुये उसके (गुणवाद कें) छः निमित्तों को गुणाश्रयी मानते हैं। निमित्तों की गणना करते हुये तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशंसा, भूम, लिङ्गसमवाय को बताया है। उदाहरण के रूप में "गौर्वाहीकः" लौकिक और "यजमानः प्रस्तरः" वैदिक प्रस्तुत करते हैं। "गौर्वाहीकः" का निरूपण बहुधा शास्त्रकारों ने किया है। "यजमानः प्रस्तरः" में यजमान शब्द यज्ञकर्मजन्य फलभोगकर्ता का वाचक है। प्रस्तर शब्द से दर्भमुष्टि का बोध होता है। कुशों को लवन करते समय प्रथम मुष्टि को प्रस्तर कहते हैं। भिन्नार्थवाचक दोनों पदों में गौणीवृत्ति से समानाधिकरण सिद्ध किया जाता है। जिसेक लिये गुणवाद के तत्सिद्धि संज्ञक निमित्त को लिया जाता है। तत्सिद्धि से यहाँ तत्कार्यकारित्व का ग्रहण होता है। यज्ञ में जैसे यजमान चेतनकर्तृक कार्यों को करता है। अन्य कार्यों का सम्पादन प्रस्तर से होता है। इस प्रकार चेतन कार्यों को छोड़कर अन्य प्रस्तर से सिद्ध होने वाले कार्यों को लक्षित करके समानकार्य योग प्रस्तर में स्वीकार किया जाता है। अतः यजमान के कार्यों के समानजातीय कार्यकारित्व प्रस्तर में भी है। अतः प्रस्तर भी यजमान कोटि में आ जाता है। इस प्रकार यजमान कार्य समानकार्यकारी प्रस्तर है कि स्तुतिबुद्धि होती है। अतः गुणों की समानता से यहाँ गौणीवृत्ति सिद्ध होती है।

इस प्रकार सादृश्यसम्बन्धमूलक गौणी सारोपा और साध्यवसाना

का निरूपण करने के अनन्तर कार्यकारणतादर्थ्यादिसम्बन्धमूलक शुद्धा सारोपा और साध्यवसाना का विवेचन क़िया जा रहा है।

"आयुर्घृतम्" यहाँ आयु से जीवन के दीर्घ काल का ज्ञान होता है। घृत जनक है और आयु घृत से जन्य है। एवं दोनों में जन्यजनक या कार्यकारणभगव सम्बन्ध है। इस प्रकार घृत आयु शब्द से लक्षित होता है। अतः आयु से अभिन्न है घृत, इस प्रकार की प्रतीति होती है। एवं यहाँ कार्यकारण का समानाधिकरण से प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ सारोपा लक्षणा है। इसी प्रकार "आयुरेवेदम्" में आयु के द्वारा घृत का निगीर्णन् किये जाने के कारण साध्यवसाना लक्षणा है।

"अत्र" सारोपा, साध्यवसाना गौणी लक्षणा के "गौर्वाहीकः, गौरयम्" दोनों भेदों में परस्पर भेद होते हुये भी गुणों की समानता के कारण तद्रूपता और अभिन्नत्वं ज्ञान प्रयोजन है।

शुद्धा सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के अन्तर्गत "आयुर्घृतम्", "आयुरेवेदम्" इन दोनों में सादृश्य से भिन्न अव्यभिचरित रूप से अर्थात् नियम से कार्यकारण या जन्यजनक भाव सम्बन्ध है। इसके बाद शुद्धा लक्षणा के अन्य भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते है, जिन्हें पूर्ववृत्ति "कार्यकारणभावादि" में आदि–पद द्वारा सूचित किया गया है।

क. उपकार्योपकारक सम्बन्ध में औपचारिक लक्षणा प्रयोग होता है। जैसे– इन्द्र की पूजा के निमित्त प्रतीकभूत स्थापित काष्ठस्तम्भ में इन्द्र संज्ञा शब्द को प्रयोग करके उस शब्द से इन्द्र अर्थ की प्रतीति होती है। वहाँ उपकार्योपकारक सम्बन्ध लक्षणा द्वारा इन्द्र अर्थ की प्रतीति होती है। क्योंकि स्थूण में अभिन्नत्वेन इन्द्र की प्रतीति होती है।

ख. सेवक और स्वामी के सम्बन्ध में सेवक में राजा का औपचारिक आरोप होता है। यहाँ राजाज्ञा का उल्लंघन न कर पाना राजकर्मचारी के आदेश का पालन राजाज्ञा की तरह अनुल्लंघनीय होता है। एवं सेवक में राजा का व्यवहार लाक्षणिक है। यह सभी उदाहरण सारोपा, साध्यवसाना शुद्धा लक्षणा के ही हैं।

ग. अवयव=अंग मात्र, अवयवी=अवयव समूह। अंग मात्र में "यह शरीर है। इस प्रकार का लक्षणा से आरोपित व्यवहार होता है। अथवा हाथ के अग्र भाग मात्र में "यह हाथ है" का लाक्षणिक प्रयोग होता है।

घ. जाति विशेष के लिये रूढ़ (प्रसिद्ध) कर्म को जब अन्य जातीय व्यक्ति करता है तो तद्रूपता के कारण आरोप किया जाता है। जैसे–कोई भवनादि का निर्माण करने वाला बढ़ई (काष्ठकर्म) का कार्य करता है तो उसे तक्षक कहा जाता है। यह भी आरोपित लक्षणा व्यापार है।

इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के–

नाम	**उदाहरण**
१. उपादान लक्षणा	कुन्ताः प्रविशन्ति
२. लक्षण लक्षणा	गंगायां घोषः
३. सारोपा लक्षणा	आयुर्घृतम्
४. साध्यवसाना लक्षणा	आयुरेवेदम्

गौणी लक्षणा के–

१. सारोपा लक्षणा "	गौर्वाहीकः
२. साध्यवसाना "	गौरयम्

***(सूत्र–१७)* लक्षणा तेन षड्विधा।।१२।।**

आद्यभेदाभ्यां सह।।

पूर्वोक्त भेदों के साथ अर्थात् उपादान, लक्षण लक्षणा तथा शुद्धा सारोपा, साध्यवसाना और गौणी सारोपा तथा साध्यवसाना, मम्मट के मत में छः भेद होते हैं। या लक्षणा छः प्रकार की होती है।

(सूत्र १८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव।।

पूर्वोक्त लक्षणा व्यंग्य से रहित होने पर रूढ़ि लक्षणा और व्यंग्य से युक्त होने पर प्रयोजनवती लक्षणा कही जाती है। अर्थात् व्यंग्यरहित लक्षणा रूढ़ि में तथा व्यंग्यसहित लक्षणा प्रयोजन में होती है। प्रयोजन की प्रतीति शब्द के व्यञ्जना व्यापार से ही होती है। अन्य किसी व्यापार या प्रकार से नहीं होती है।

(सूत्र १६) **तच्च गूढमगूढं वा।**

तच्चेति व्यङ्ग्यम्। गूढं यथा–

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं

समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।

उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं

बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते।। ६।।

और वह व्यंग्य गूढ़ और अगूढ़ के भेद से दो प्रकार का होता है।

गूढ़ व्यंग्य का उदाहरण– कोई युवक किसी युवती को देखकर उसका तारूण्य वर्णन कर रहा है–

इन्दुमुखी के शरीर में तारूण्य का परिष्फुरण हो रहा है। मुख ईषत् हास्य से युक्त है, नायिका के अवलोकन में वक्रिमा आ गयी है। गमन अतिशय भंगिमाओं से युक्त है। बुद्धि मर्यादा को छोड़ रही है। अर्थात् तीक्ष्ण हो रही है। वक्षस्थल में स्तन रूपी कलिकायें स्फुटित हो रही है। जंघाओं के अवयवों का बन्धभाग उन्नत हो रहा है। स्वाभाविक रूप से ही इन्दुवदना (सौंदर्यशालिनी) नायिका तारूण्य के चिन्हों से अतिशय उल्लसित हो रही है।

यह लक्षणामूल ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर क्रमशः पहले विकसित पद का प्रयोग स्मित के लिये किया गया है। जबकि विकास पुष्प का धर्म है। वशीकरण चेतन का धर्म है जो प्रेक्षण के लिये प्रयुक्त है। समुच्छलन=ऊर्ध्वगमन द्रव (जलादि) का धर्म है। जो कि यहाँ विभ्रम (हाव–भाव) के लिये प्रयुक्त है। मर्यादा का त्याग भी

चेतन का धर्म है जो बुद्धि में आरोपित है। उद्धरत्व भी चेतन के लिये है किन्तु यहाँ जघन के लिये प्रयुक्त है। मोद–चेतन में होता है। किन्तु यहाँ यौवन में प्रयुक्त है। इस प्रकार यहाँ प्रयुक्त सभी विशेषणीभूत पदार्थ बाधित होकर सातिशयता को लक्षित करते हैं। तथा नायिका का उपभोगक्षमत्व या स्पृहणीयत्व व्यंग्य है जो केवल सहृदयजन को ही प्रतीत होता है।

अगूढ़ यथा –

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्थचरितानाम्।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।। १०।।

अत्रोपदिशतीति।

अगूढ़व्यंग्य का उदाहरण–

ऐश्वर्य या लक्ष्मी (धन सम्पत्ति) के प्राप्त होने पर मूर्ख व्यक्ति भी चतुर व्यक्तियों के चरित्र को जानने वाले हो जाते हैं। कामनियों का यौवनभार ही उन्हें रति चेष्टाओं का ज्ञान करा देता है।

यहाँ "उपदेश" शब्द जो चेतन का धर्म है, वह यौवन मद के लिये प्रयुक्त किया गया है। अतः मुख्यार्थ बाधित होकर आविष्कार करता है। इस लक्ष्यार्थ में परिवर्तित होता है। और विना परिश्रम के रति चेष्टाओं का ज्ञान व्यंग्यार्थ है। जो सभी को सरलता से प्रतीत होता है। अतः यह अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है।

(*सूत्र–२०*) तदेषा कथिता त्रिधा।। १३।।

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या च।।

इस प्रकार यह लक्षणा तीन प्रकार की कही गयी है।

१. अव्यंग्या– व्यंग्य से रहित

२. गूढ़ व्यंग्या– विदग्धजन वेद्य

३. अगूढ़व्यंग्या– सर्वजन वेद्य

(सूत्र–२१) तद्भूर्लाक्षणिकः।

शब्द इति संबध्यते। तद्भूस्तदाश्रयः।।

इस त्रिविध लक्षणा का आश्रयी शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है।

(सूत्र–२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।

कुत इत्याह

इस लाक्षणिक शब्द से लक्षणाव्यापार जन्य लक्ष्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर जो व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, उसकी प्रतीति में शब्द के होने वाले व्यापार को व्यञ्जना व्यापार कहा जाता है। क्योंकि–

(सूत्र–२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।। १४।।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।

जिस प्रयोजन (व्यंग्यार्थ या फल) की प्रतीति–अनुभूति को उद्भावित करने के लिये लाक्षणिक शब्द या लक्षणा व्यापार का आश्रय लिया जाता है। ऐसे लाक्षणिक शब्दमात्र से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ रूप (शैत्यपावनत्वादि रूप) प्रयोजन में व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया या व्यापार नहीं होता।

प्रयोजन के प्रतिपादन की आकांक्षा से अर्थात् तटादि में शैत्यपावनत्वादि फल की आकांक्षा से "गंगायां घोषः" इत्यादि स्थलों में गंगा आदि लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ अन्य किसी माध्यम से प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती। अपितु उसी लाक्षणिक गंगादि शब्द से ही प्रतीति होती है। और इस प्रकार के प्रयोजनों की

प्राप्ति में लाक्षणिक शब्द का जो व्यापार होता है। वह व्यञ्जना व्यापार के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं होता है। क्योंकि– इसके पूर्व शब्द द्वारा ज्ञात चार प्रकार के अर्थ बताये गये हैं। उन चारों प्रकार के अर्थों की प्रतीति की प्रक्रिया निर्दिष्ट की गयी है। उनमें से व्यंग्यार्थ की प्रतीति की प्रक्रिया का निरूपण करते हुये व्यञ्जना का अन्तर्भाव अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यावृत्ति में सम्भव नहीं है।

(सूत्र–२४) नाभिधा समयाभावात्।

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः संकेतिताः।।

व्यंग्यार्थ का ज्ञान कराते समय शब्द में अभिधा व्यापार नहीं हो सकता। अर्थात् अभिधा व्यापार से व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि "समय–संकेतग्रह का अभाव है। शब्द उस व्यंग्यार्थ के लिये संकेतित नहीं है।

"गंगायां घोषः" इस वाक्य में गंगा शब्द से प्रतीति होने वाले शीतलता और पवित्रता आदि अर्थों में गंगा शब्द का संकेत नहीं है। अपितु गंगा शब्द प्रवाह विशेष का ही वाचक है।

(सूत्र–२५) हेत्वभावान्न लक्षणा।। १५।।

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।।

मुख्यार्थ बाधादि हेतुवों के अभाव में लक्षणा नहीं होगी। क्योंकि लक्ष्यार्थ रूप में लक्षणाजन्य ज्ञान सामग्री का अभाव रहेगा। और भी– तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का मूल है। तात्पर्यानुपपत्ति होने पर लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। जिसके तीन हेतु है, और उन तीनों का यहाँ अभाव है। यथा–

तथा च–

(सूत्र–२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।

न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः।। १६।।

यथा गङ्गाशब्दः स्त्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः। नाप्यत्र बाधः। न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः संबन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किंचित् प्रयोजनम्। नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।।

गंगा शब्द से अभिधा द्वारा ज्ञात प्रवाह रूप अर्थ ही मुख्यार्थ है। अतः तट रूपी लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ नहीं हो सकता है। यदि लक्ष्यार्थ तीर को मुख्यार्थ माना जाय तो शैत्यपावनत्व को लक्षणा से ज्ञात किया जायेगा। लेकिन इसके पूर्व मुख्यार्थ तट को बाधित होना चाहिये, जबकि तट बाधित नहीं है। क्योंकि तट में घोष का आधार सिद्ध है तथा तट का फल से (शैत्यपावनत्वादि से) कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो प्रवाह के धर्म है। यदि शैत्यपावनत्वादि को लक्ष्यार्थ की कोटि में लाया जायेगा तो कोई अन्य प्रयोजन नहीं रह जाता है। जबकि यह प्रयोजनवती लक्षणा है। और न ही गंगा शब्द तट की तरह प्रयोजनरूप शैत्यपावनत्व का ज्ञान कराने में असमर्थ है।

जिस प्रकार गंगा शब्द प्रवाह रूप अर्थ में बाधित होकर तटरूप अर्थ का बोध कराता है। उसी प्रकार यदि तट रूप अर्थ भी बाधित हो तभी प्रयोजन (शैत्यपावनत्वादि) लक्षणा का विषय वन सकता है। लेकिन तट गंगा शब्द का संकेतित (मुख्यार्थ) नहीं है। तट को मुख्यार्थ मानने पर घोष सिद्ध हो जायेगा। अतः मुख्यार्थ बाध का अभाव है। और गंगा शब्द का तट अर्थ मुख्यार्थ माना जाय तो उस तट का शैत्यपावनत्व से साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् शैत्यपावनत्व प्रवाह के धर्म हैं। तट के धर्म नहीं हैं। प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने पर अन्य कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। और जैसे तट शैत्यपावनत्व का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। उसी प्रकार गंगा शब्द असमर्थ नहीं है। यतः गंगा शब्द को तट रूपार्थ की प्रतीति कराने के लिये जिस प्रकार मुख्यार्थ बाधादि की अपेक्षा होती है, उस प्रकार शैत्यपावनत्व प्रयोजनों का ज्ञान कराने में असमर्थ नहीं है।

उपयुर्क्त निरूपण से यह निर्धारित किया गया कि व्यंग्यार्थ वाच्य, लक्ष्य अथवा तात्पर्य की कोटि को नहीं प्राप्त कर सकता। अब यदि यह कहा जाय कि शैत्यपावनत्व प्रयोजनों को लक्ष्यार्थ मानकर प्रयोजनान्तर की कल्पना की जा सकती है, तो यह भी उचित नहीं होगा। क्योंकि ऐसा करने पर अनवस्था दोष होने लगेगा।

अनवस्था– "अप्रमाणिकाऽनन्तपदार्थपरिकल्पनाऽविश्रान्तिरनवस्था" अर्थात् अप्रमाणिक अनन्तपदार्थों की उत्तरोत्तर कल्पना करना अनवस्था दोष कहलाता है। इसी को अगले सूत्र में बतलाया गया है।

(*सूत्र–२७*) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत्।

ननु पावनात्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यञ्जनयेत्याह–

प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानकर अन्य प्रयोजन की कल्पना करना अप्रामाणिक अनवस्था दोष को उत्पन्न करेगा। जिससे मूल का ही लोप हो जायेगा। एवं – इस प्रकार प्रभृत में सिद्ध प्रयोजन शैत्यपावनत्व प्रकृति को लक्ष्यार्थ मानकर अन्य प्रयोजन की कल्पना करना और इस प्रकार नये–नये प्रयोजनों की कल्पनाओं का क्रम बनने से अनन्त कल्पनारूप प्रयोजनों के उत्पन्न हो जाने से मूल का ही लोप हो जायेगा।

इस प्रकार अनवस्था दोष के कारण भी प्रयोजन लक्षणा का विषय नहीं बन सकता। यह बताकर अब विशिष्ट लक्षणावादियों के मत का खण्डन करते है।

प्रश्न–शैत्यपावनत्वादिविशिष्ट तट में ही लक्षणा की प्रवृत्ति हो। अर्थात् शैत्यपावनत्वविशिष्ट तट को लक्ष्यार्थरूप में स्वीकार करके शैत्यपावनत्व की विशेष प्रतीति प्रयोजन है।ऐसा मान लेने पर विशिष्ट

में लक्षणा हो जायेगी। अलग से व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। अर्थात् व्यञ्जना का कोई प्रयोजन नहीं है।

उत्तर–

(सूत्र–२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।। १७।।

कुत इत्याह

प्रयोजन के साथ लक्ष्यार्थ युक्त नहीं होता। अर्थात् प्रयोजन (शैत्यपावनत्व) और लक्षणीय–लक्षणा द्वारा लक्षित तट एक ही व्यापार से प्रतीति नहीं हो सकते। क्योंकि विशिष्ट में लक्षणा मानने से नैयायिक और मीमासंकों के मत के विरूद्ध होगा।

(सूत्र–२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।।

ज्ञान का विषय अन्य है और फल उससे (ज्ञान के विषय से) भिन्न है। अर्थात् लक्षणा जन्य ज्ञान का विषय तट अन्य काल में प्रतीति होता है। और उस तट में रहने वाले शैत्यपावनत्वादि फल अन्यकाल में प्रतीत होते है।

प्रत्यक्षज्ञान का विषय नीलादि है, और फल मीमांसकों के मत में प्रकटता या ज्ञातता, और नैयायिकों के मत में संवित्ति या अनुव्यवसायिक ज्ञान है।

उक्त कारिका का विषय विद्वानों द्वारा प्रायः विचार कोटि में लाया जाता है। अतः यहाँ छात्रों की जानकारी हेतु विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

"गंगायां घोषः" इस वाक्य में तट लक्ष्यार्थ है और उसमें वर्तमान धर्म शीतलतादि प्रयोजन है। एवं तट और शैत्यपावनत्वादि में विशिष्टवैशिष्ट्य भाव सम्बन्ध के कारण स्पष्ट ही भेद की प्रतीति हो रही है। तब इस कारिका द्वारा केवल दोनों का भेद न बताकर विशेष

अभिप्राय हेतु प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् इस कारिका द्वारा यह बताया गया है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में काल भिन्नत्व होने के कारण दोनों की एक काल में एक ही व्यापार से प्रतीति नहीं हो सकती है। यथा–"कार्यनियतपूर्वक्षणवृत्ति कारणं भवति" इस न्याय से कारण की उपस्थिति कार्य के पूर्व होना आवश्यक है। और इस प्रकार कार्य को भी कारण के भिन्न काल अर्थात् उत्तरकाल में होना पड़ेगा। यदि कारण और कार्य की एक ही काल में उपस्थिति मानेंगे तो दोनों की सिद्धि नहीं हो पायेगी। शैत्यादिफल यहाँ साध्य है। यदि फल साध्य है तो उसका साधन भी होना चाहिये। और वह साधन लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है। क्योंकि घटादि विषयों के साथ चक्षुरादि इन्द्रियों का संयोग होने पर "यह घट है," "यह नील है" यह पीत है, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। और भी जैसे– दीपक के सानिध्य से चक्षु में वस्तु के रूप और महत्व के उभूत होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और वह वस्तु का रूप तथा महत्व प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति कारण होता है। उसी प्रकार विषय भी प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति कारण वनता है। लेकिन मीमांसक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक "घट को मैं जानता हूँ" इस प्रकार की ज्ञातता या प्रकटता नहीं होती है। तब तक प्रथम उत्पन्न ज्ञान की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते। अर्थात् मीमांसक प्रथम उत्पन्न ज्ञान का प्रामाण्य द्वितीय ज्ञान के उत्पन्न होने पर ही स्वीकार करते हैं। इसी द्वितीय ज्ञान को ज्ञातता या प्रकटता कहते हैं। नैयायिक इस द्वितीय उत्पन्न ज्ञान को अनुव्यवसाय या संवित्ति कहते हैं। उनके मत में 'अयं घटः' "यह घट है" इस ज्ञान के अनन्तर "घट को मैं जानता हूँ", "घट से मैं जल पीता हूँ" इस द्वितीय ज्ञान के उत्पन्न होने पर घट विषयक प्रथम उत्पन्न ज्ञान प्रमाणित होता है। इसी द्वितीय कोटि में उत्पन्न ज्ञान को अनुव्यसायिक ज्ञान कहते है। दोनों ही मतों में द्वितीय ज्ञान और प्रथम उत्पन्न ज्ञान में काल का भेद है। अर्थात् प्रथम उत्पन्नपूर्वकालिक ज्ञान उत्तर काल में उत्पन्न ज्ञान का साधन है। अर्थात प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय घट है। और प्रकटता या संवित्ति रूप फल घट को जानता हूँ, आदि पूर्वापर क्रम से उत्पन्न होते हैं। उक्त

दोनों मतों के प्रवृत्त होने का मुख्य हेतु बौद्धों का निर्विषयक ज्ञान है। बौद्धों के मत में–

ज्ञान स्वंय प्रकाश तथा निरालम्बनात्मक है। प्रत्यक्ष की वाह्य प्रवृत्ति न होने के कारण प्रतीयमान अर्थ ज्ञानात्मक ही होता है, वाह्य नहीं होता। ज्ञान ही भासित होता है। अर्थ जड़ होने के कारण भासित नहीं होता। इसीलिये नीलादि आकार विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ज्ञान के ही भाषित होने पर स्वप्रकाशबुद्धिरूप ज्ञान ही ग्राह्य और ग्राहक रूप होने के कारण प्रमा का वहीं विश्राम हो जाता है। अतः वाह्यार्थ की कल्पना का प्रमाण ही नहीं रह जाता है। इसके विपरीत नैयायिक तथा मीमांसक दोनों ही अर्थाधीन ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानते है। अतः सविषयक ज्ञान भाषित होता है केवल ज्ञान भाषित नहीं होता है। क्योंकि ज्ञान इच्छा और क्रिया को सविषयक माना गया है। अतः विषय के बिना ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः ज्ञान की उत्पत्ति में जैसे इन्द्रियसन्निकर्ष आवश्यक है, उसी प्रकार विषय की भी आवश्यकता है। क्योंकि विषय भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है। इस प्रकार विषय की कारणता सिद्ध होने पर उसका ज्ञान रूप कार्य से पूर्व होना निश्चित हो जाता है। बौद्ध लोग ग्राह्य और ग्राहक ज्ञान को ही मानते हैं। ग्राहक ज्ञान ग्राह्य ज्ञान को ग्रहण करता है। इस प्रकार ग्राहक ज्ञान ग्राह्य ज्ञानांश को स्वंय ग्रहण करता है। इस प्रकार ज्ञान से भिन्न अन्य कोई पदार्थ बौद्धों के मत में नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पूर्व प्रक्रिया के अनुसार ज्ञान स्वयं ही स्वांस का ग्रहण करता है। तो जिस काल में ज्ञान ग्राहक है उस काल में ग्राह्य नही है। और जिस काल में ग्राह्य है उस काल में ग्राहक नही हैं। इस प्रकार उसका न तो ग्राहकत्व सिद्ध हो पाता है और नही ग्राह्यत्व सिद्ध हो पाता है। अतः ज्ञान सालम्बनात्मक स्वीकार किया गया है। ज्ञान का आलम्बन ही विषय है। और विषय की क्रियाकारिता होती ही है। जैसे–घट से जल पीना, जल लाना आदि। इस प्रकार ज्ञान का विषय "घट" और फल जलादि की घट से प्राप्ति दोनों भिन्न कालिक है। इसी को संवित्ति

या अनुव्यवसायिक ज्ञान कहते हैं।

मीमांसकों के मत में भी विषयेन्द्रियसन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु उसकी प्रतीति तभी होती है जब अर्थ का प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि अर्थ का ही प्रत्यक्ष होता है, ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थ प्रतीति के अनन्तर पूर्व के ज्ञान की अनुमिति होती है। क्योंकि अर्थविषयिणी बुद्धि प्रत्यक्ष होती है। अर्थ ही साकार है, ज्ञान का स्वरूप निराकार है। अर्थ ज्ञान के अनन्तर ज्ञातता हेतु रूप अनुमान से "मैं घट को जानता हूँ" इस प्रकार की प्रतीति होती है। "घट" विषयता सम्बन्ध से ज्ञान विशिष्ट है। और स्वरूप सम्बन्ध से ज्ञातता रूप है। इस प्रकार का अनुमानप्रकार निर्धारित होता है। ज्ञातता को ज्ञानजन्य ज्ञेयनिष्ठ अतिशय विशेष माना जाता है। जो कि मानस प्रत्यक्ष का विषय होता है। ज्ञातता अथवा प्रकटता ही नैयायिकों की संवित्ति है। केवल निरूपण प्रकार ही दोनों का भिन्न–भिन्न है।

अर्थ का मानस प्रत्यक्ष होने पर विषय में वर्तमान अतिशयविशेष से ज्ञान की अनुमेयता सिद्ध होती है। जिससे "ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है" यह बौद्धों का कथन स्वतः निरस्त हो जाता है। इसी प्रकार विशिष्ट में लक्षणा स्वीकार करने पर "गंगायां घोषः" इस वाक्य से हमें शैत्यपावनत्वविशिष्ट गंगा के तट रूप विषय की ही कोटि में तट में रहने वाले फल रूप शैत्यपावनत्व आदि भी आ जायेंगे। परिणामतः विषय तट और प्रकटता और संवित्ति के पक्षपाती मतों के विरूद्ध होगा। अतः विशिष्ट में लक्षणा नहीं मानी जा सकती है। तब शीतलता आदि तट में प्रतीत होने वाले फलों के लिये भी गंगा शब्द कोई व्यापार करेगा ही। अतः हमें व्यञ्जना व्यापार स्वीकार करना होगा।

(सूत्र–३०) विशिष्टे लक्षणा नैवं

व्याख्यातम्।।

इस प्रकार शैत्यपावनत्व विशिष्ट तट में लक्षणा नहीं हो सकती। अर्थात् लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय अन्यकालिक होता है। और विषय

में रहने वाले फल अन्य काल में प्रतीत होते हैं। दोनों एक काल में प्रतीत नहीं हो सकते। अतः विशिष्ट में लक्षणा नहीं हो सकती है।

(सूत्र–३१) **विशेषाः स्यस्तु लक्षिते।। १८।।**

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा–तात्पर्य–लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जन–ध्वनन द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम्।

लक्षित अर्थ में विशेष होते है। अर्थात् विशेषण रूप जो फल है। वह लक्षितार्थ में रहते है। और उनकी प्रतीति लक्षितार्थ प्रतीति के अनन्तर होती है। अतः उन धर्मों की प्रतीति के लिये लक्षणा से भिन्न व्यापार ही प्रवृत्त होगा।

तटादि लक्ष्यार्थों में रहने वाले जो विशेष (शीतलता, पवित्रता आदि धर्म) हैं वह अभिधा, तात्पर्याख्या और लक्षणा व्यापार से भिन्न व्यापार द्वारा ही जाने जा सकते है। और उस व्यापार को व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों द्वारा कहा जाता है। उक्त व्यापार फल प्रतीति में अवश्य स्वीकरणीय है।

इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनि अर्थात् लक्षणा व्यापार के बाद होने वाले व्यञ्जना व्यापार का स्वरूप विवेचन करने के बाद अभिधा मूल ध्वनि या अभिधा व्यापार के बाद होने वाले व्यञ्जना व्यापार के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

अभिधामूलं त्वाह–

(सूत्र–३२) **अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।**
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्।। १९।।

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।

इत्युक्तदिशा ।

सशचङ्क्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथौ। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे। सर्वं जानति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज् इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद्देशाद्राजनि। चित्र भानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये, स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः।।

इत्यादावभिनयादयः।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद्, अपित्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः। यथा–

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल–
वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य
दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्।। १२ ।।

शब्द अनेकार्थ होते हैं। शब्द अनेक अर्थों में संकेतित होता है। लेकिन एक ही समय में एक व्यापार (अभिधा) से एक ही संकेतार्थ की प्रतीति होगी। अन्य संकेतित अर्थ उस कालविशेष में अभिधेय नहीं हो सकते। क्योंकि अभिधा पुनः प्रवृत्त नहीं होगी। सभी अर्थ शब्द द्वारा संकेतित हैं। अतः अभिधेयार्थ के नियंत्रण हेतु संयोगादि को हेतु मानकर वाच्यवाचक और व्यंग्यव्यञ्जक का निर्णय लिया गया है। यथा– (सूत्र–३२) अनेक अर्थों में संकेतित शब्द को संयोगादि से निश्चित अर्थ के प्रति वाचक रूप में निर्धारित करने के अनन्तर जो दूसरा अभिधा व्यापार द्वारा ज्ञात अर्थ से भिन्न अर्थ ज्ञात होता है, उस

अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना व्यापार ही है। संयोगादि हेतु अनेकार्थक शब्द से अनिश्चय की स्थिति में निश्चित अर्थ की प्रतीति कराने में साधक होते है। यथा– अभिप्राय यह है कि शब्द की अनेक अर्थों का बोध कराने की शक्ति होती है। लेकिन जब शब्द का प्रयोग किया जाता है तो सभी अर्थों के लिये एक साथ प्रयोग नहीं किया जाता। किसी विशेष के लिये ही प्रयोग किया जाता है। अतः जिस अर्थविशेष के लिये शब्द का प्रयोग हुआ है, उस विशेष हेतु के कारण शब्द प्रथम जिस अर्थ का ज्ञान करायेगा वह अभिधेयार्थ हो जायेगा। हेतु के कारण शब्द का विशेष अर्थ में वाचकत्व निधार्रित हो जाता है। इसके बाद जो द्वितीय काल में अर्थ ज्ञात होगा वह अभिधेय नहीं होगा। उसके लिये दूसरी वृत्ति माननी पड़ेगी। क्योंकि तात्पर्यग्राहक संयोगादि हेतुवों की उपस्थिति से ज्ञात अर्थ ही वाच्य है। अतः अवाच्य अर्थ (अभिधा द्वारा) ज्ञात अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान का हेतुभूत व्यापार व्यञ्जना व्यापार ही है। यथा–

१. **संयोग–** प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। विष्णु का शंख चक्र से संयोग प्रसिद्ध है। विष्णु रूप अर्थ का वाचक हरि शब्द है और वह अनेकार्थ है। लेकिन हरि शब्द शंखचक्र से संयुक्त होकर जब प्रयुक्त होता है तो उससे विष्णु रूप अर्थ प्रथम और अभिधा व्यापार से ज्ञात होता है। इसके बाद हरि शब्द द्वारा जो सिंहादि अर्थ प्रतीत होते हैं। वह व्यञ्जना से प्रतीत होने के कारण व्यंग्यार्थ माने जाते है।

२. **विप्रयोग–** प्रसिद्ध सम्बन्ध का ध्वंस (अभाव) होना विप्रयोग है। शंखचक्र से रहित हरि में शंखचक्र से अभाव विष्णु में ही होगा। क्योंकि संयोग वहीं प्रसिद्ध है। यहाँ भी हरि शब्द पहले अभावमूलक अर्थ का ज्ञान अभिधा से करायेगा।

३. **साहचर्य–** एक देश काल में उपस्थिति अथवा एक कार्य में परस्पर सापेक्षत्व साहचर्य कहा जाता है। यथा– "रामलक्ष्मणौ", यहाँ राम शब्द परशुराम, बलराम आदि के अर्थों का संकेतक होते हुये भी लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से दशरथ पुत्र राम में नियंत्रित हो जाता है। इसके बाद बलरामादि अर्थ व्यञ्जना से ही प्रतीत होंगे। इसी प्रकार

लक्ष्मण, शब्द सारस, दुर्योधन पुत्रादि में बह्वर्थक होते हुये भी राम के साहचर्य से दशरथ पुत्र लक्ष्मण में नियंत्रित होता है। अन्य अर्थ सारसादि व्यञ्जना से ज्ञात होंगे।

४. विरोधिता– बध्यघातकभाव सम्बन्ध हो जहाँ वहाँ विरोधिता माना जाता है। यथा–"रामार्जुनगतिस्तयोः" यहाँ रामार्जुन उपमान है और तयोः उपमेय है। उपमानांश में राम और अर्जुन दोनों शब्द अनेकार्थ हैं किन्तु बध्यघातक सम्बन्ध केवल परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन में ही है। अतः विरोधिता रूप हेतु से दोनों शब्द अभिधा द्वारा नियंत्रित उक्त दोनों का ज्ञान करायेंगे। तथा अन्य अर्थ व्यञ्जना से ज्ञात होंगे।

५. अर्थः– "स्थाणुं भज भवच्छिदे–" प्रयोजन विशेष को अर्थ कहा जाता है। यहाँ पर प्रयोजन (फल) विशेष के लिये स्थाणु शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रयोजन संसार से मुक्ति है। उस मुक्ति के लिये स्थाणु का आश्रय लेना है। स्थाणु शब्द वृक्ष खण्ड आदि का भी वाचक है। लेकिन वृक्षखण्ड आदि से संसार मुक्ति होना सम्भव नहीं है। अतः संसार से मुक्ति प्रयोजन रूप हेतु से नियन्त्रित स्थाणु शब्द शंकर भगवान का अभिधया बोध करायेगा।

६. प्रकरणम्– "सर्वं जानाति देवः" आप सब जानते है। देव शब्द अमर, निर्जर, देवता, राजा भट्टारक आदि का वाचक है। यहाँ पर राजा और दूत की वार्ता का प्रकरण (प्रसंग) है। इसी सम्बन्ध में दूत राजा से कहता है– हे देव ! आप सब जानते है। इस प्रकार देव शब्द अनेकार्थ होते हुये भी प्रकरण सामर्थ्य से राजा रूप अर्थ में नियंत्रित हो जाता है।

७. लिंगम्– "कुपितो मकरध्वजः" मकरध्वज कुपित है। यहाँ मकरध्वज शब्द काम, ध्वज, तथा मक्र (मकर) का वाचक होते हुये भी कोप रूप असाधारण धर्म से युक्त होने के कारण कामदेव रूप अर्थ में नियंत्रित हो जाता है।

८. अन्यशब्दस्य सन्निधिः– "देवस्य पुराराते:" यहाँ देव शब्द

अनेकार्थक होने पर भी पुराराति (त्रिपुर के शत्रु भगवान शंकर) शब्द की सन्निधि के कारण शंभु रूप वाच्यार्थ में नियंत्रित होता है।

९. **सामर्थ्यम्**– "मधुना मत्तः कोकिलः" कोयल मधु से मतवाला है। मधु शब्द पुष्परस, शहद, दैत्य, सुरा, बसन्त, आदि का वाचक है। किन्तु प्रकृत कोयल को मतवाला करने में वसन्त ही समर्थ है। अतः सामर्थ्य के कारण मधु शब्द वसन्त रूप वाच्यार्थ में नियंत्रित होता है।

१०. **औचित्यम्**– "पातु वो दयिता मुखम्" प्रिया का मुख आपकी रक्षा करे। यहाँ पर प्रयुक्त मुख शब्द अनेकार्थ होते हुये भी औचित्य के कारण अनुकूलता अर्थ में नियंत्रित होता है। अर्थात् औचित्य हेतु के कारण अनुकूलता अर्थ अभिधा से ज्ञात करायेगा।

११. **देशः**– "भात्यत्रपरमेश्वरः" यहाँ परमेश्वर सुशोभित हो रहे हैं। यद्यपि परमेश्वर शब्द देवतादि अनेक अर्थों का बोधक है तथापि देश अर्थात स्थानविशेष (राजदरबार) में राजा को उद्दिष्ट करके प्रयुक्त होने के कारण राजा अर्थ में नियंत्रित होकर अभिधा से ज्ञान करायेगा।

१२. **कालः**– "चित्रभानुर्विभाति"। चित्रभानु शब्द अग्नि और सूर्य का वाचक है। काल विशेष से नियंत्रित होकर विशेष अर्थ का ज्ञान करायेगा। यथा– दिन में प्रयुक्त होने पर सूर्य का और रात्रि में प्रयुक्त होने पर अग्नि का ही अभिधा से ज्ञान करायेगा।

१३. **व्यक्तिः**– लिङ्गज्ञान, (स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) "मित्रं भाति", "मित्रो भाति"। मित्र शोभित हो रहा है। मित्र शब्द उभयलिङ्गी (नपुंसकलिङ्ग और पुल्लिङ्ग है। लेकिन नपुंसकलिङ्गमें प्रयुक्त मित्र शब्द केवल सुहृद (सखा) का बोध करायेगा। और पुल्लिङ्गमें प्रयुक्त होकर सूर्य का वाचक है। इस प्रकार लिङ्गज्ञान या लिङ्ग द्वारा मित्र शब्द विशेषार्थ का वाचक हो जाता है।

१४. **स्वरः**– "इन्द्रशत्रुः" स्वर का प्रयोग काव्य में अर्थ के नियंत्रण हेतु गृहीत नहीं होता अपितु वेद में विशेषार्थ की प्रतीति के लिये ही

किया जाता है। यदि स्वर का प्रयोग काव्य में मानकर अर्थ विशेष को नियंत्रित किया जायेगा तो शब्द का श्लिष्टार्थत्व बाधित होगा। स्वर से विशेषार्थ की प्रतीति में महाभाष्य का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। इन्द्रशत्रुः वर्धस्व उदाहरण है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार "मन्त्रो हीनःस्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराघात्"। अभिप्राय यह है कि यहाँ शत्रु शब्द का अर्थ है मारने वाला। इन्द्रशत्रु शब्द में बहुब्रीहि और षष्ठीतत्पुरूष समास है। दोनों समासों में आद्याउदात्त और अन्तोदात्त के भेद से अर्थ बदल जाता है। जैसे–"इन्द्रः शत्रुः–शातयिता यस्य" यहाँ बहुब्रीहि समास है। यहाँ आद्योदात्त है, क्योंकि मारने वाला इन्द्र है। इसी प्रकार इन्द्रस्य शत्रुः– शातयिता (मारने वाला) इन्द्र को मारने वाला इन्द्र का शत्रु। यहाँ अन्तोदात्त है। दोनों ही स्थितियों में इन्द्रशत्रुः शब्द है, लेकिन स्वरभेद से विशेषार्थ की प्रतीति होती है।

आदि पद से अभिनय चेष्टादि को लिया जाता है। चेष्टादि से भी विशेषार्थ में नियमन होता है। जैसे– इतने बड़े–बड़े स्तनों वाली, इस प्रकार के मनोहर नेत्रों वाली इतने दिनों में ही इतनी सी रह गयी।

यहाँ किसी वियोगिनी नायिका की अवस्था का वर्णन दूती के द्वारा नायक के समक्ष किया जा रहा है।

इस प्रकार चेष्टा आदि से विशेषार्थ में नियंत्रण होता है। इस प्रकार नानार्थक शब्दों को संयोगादि हेतुवों से अन्य अर्थों की वाचकता से निर्वारित करने के बाद अभिधेयार्थ प्रतीति के अनन्तर जो अन्य अर्थ प्रतीति होते है। उनमें अभिधा व्यापार नहीं होता। क्योंकि संयोगादि से नियंत्रित अर्थ की प्रतीति के अनन्तर जो अर्थ प्रतीति होती है उसमें पुनः अभिधा नहीं होगी। मुख्यार्थबाधादि हेतु न होने से लक्षणा भी नहीं होगी। अपितु व्यञ्जना व्यापार ही होगा। जैसे–भद्रात्मनो–

किसी राजा का वर्णन करते हुये कवि की उक्ति है। प्रकृत राजा का कर दान करने के समय संकल्प के लिये गृहीत जल से निरन्तर

सिञ्चित रहता है। राजा कैसा है। इसका वर्णन करते हुये कवि कहता है कि– सुन्दर स्वरूप तथा अन्तःकरण वाले, किसी के भी द्वारा अपराजित शरीर वाले, श्रेष्ठ या उन्नत कुल में उत्पन्न, बाणों का पर्याप्त संग्रह करने वाले (सैन्य शक्ति सम्पन्न)। अबाधित ज्ञान से युक्त या सज्जनों का हित करने वाले, शत्रुओं का शमन करने वाले उस राजा का हाथ दान हेतु संकल्प के लिये गृहीत जल से सदैव शोभित होता है।

पद्य में प्रयुक्त सभी पद अनेकार्थक है। अतः द्वितीयार्थ की भी प्रतीति होती है। और वह द्वितीय अर्थ हस्तिविषयक है। यथा– जिस श्रेष्ठ गज का शुण्डदण्ड निरन्तर दानाम्बु–मदजल से सिक्त होकर शोभित होता है। अर्थात् भद्रजाति में उत्पन्न, अत्याधिक उन्नत होने के कारण आरोहण में कठिन, विशाल वेणु की तरह ऊँचा, भ्रमरों से युक्त, धीरगमन से युक्त उस उत्कृष्ट गज का करशुण्ड निरन्तर मदजल के प्रवाह से सुन्दर प्रतीत होता है।

यहाँ प्रकरण की सामर्थ्य से भद्रादि अनेकार्थ वाचक शब्दों का अर्थ राजा में अन्वित होकर अभिधा से बोध कराते है। अनन्तर सहृदयों की वासना से हस्तीरूप प्रतीत होने वाले अर्थ में अभिधा के पुनः प्रवृत्त न होने के कारण, और मुख्यार्थबाधादि हेतुवों के अभाव में लक्षणावृत्ति का अवसर न होने के कारण, शब्द का तीसरा व्यापार होगा। और वह व्यापार व्यञ्जना व्यापार ही होगा। अन्यथा ज्ञात अर्थ की शाब्दत्वसिद्धि नही होगी।

अभिप्राय यह है कि शब्द द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ के लिये वृत्ति (व्यापार) की अपेक्षा होती है। "वृत्यापदजन्यपदार्थोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्" यह न्याय है। अतः जब तक शब्द का व्यापार नहीं होगा तब तक अर्थ की शाब्दत्वसिद्धि नहीं होगीं।

वृत्तियाँ तीन है– अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना। शब्द के संकेतित अर्थ को बताने वाली वृत्ति अभिधा है। शब्द के संकेतितार्थ का निर्धारण आठ प्रकार से होता है। १. व्याकरण, २. उपमान, ३.

कोशग्रन्थ, ४. आप्तवाक्य, ५. व्यावहार, ६. वाक्यशेष, ७. विवृत्ति, ८. सिद्धपद की सन्निधि। उक्त आठ प्रकार से संकेतित शब्द का अर्थ अभिधेयार्थ, और अभिधेयार्थ के बोध में शब्द का होने वाला व्यापार अभिधा व्यापार कहा जाता है। इसी को अभिधा शक्ति भी कहते है। जहाँ अभिधावृत्ति से तात्पर्यज्ञान नहीं हो पाता वहाँ मुख्यार्थ बाधादि हेतुवों की सहायता से मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाली वृत्ति लक्षणा कहलाती है। इस लक्षणावृत्ति को आरोपितवृत्ति या व्यापार भी कहते है।

अभिधा और लक्षणा से भिन्न शब्द का प्रयोजन (फल) की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यञ्जना व्यापार कहलाता है। यह व्यापार शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार का होत है। इसी को शाब्दी व्यञ्जना और आर्थीव्यञ्जना कहते हैं। शाब्दी व्यञ्जना के भी दो भेद होते हैं। लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला में लक्ष्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। और अभिधामूला में अनेकार्थवाचक शब्द को संयोगादि के द्वारा वाच्यार्थ में नियंत्रित करके जो द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है वह व्यञ्जना व्यापार गम्य होता है। आर्थी व्यञ्जना का निरूपण तृतीय उल्लास में किया जायेगा।

***(सूत्र–३३)* तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः**

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः

व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक शब्द कहा जाता है।

***(सूत्र–३४)* यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।**

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।। २०।।

तथेति व्यञ्जकः।।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः।। २।।

व्यञ्जक शब्द पहले वाच्यार्थ का बोध कराता है। इसके बाद व्यंग्यार्थ का बोध कराता है। अतः वह वाच्यार्थ भी सहकारी कारण

के रूप में व्यञ्जक माना जाता है। अर्थात् जहाँ शब्द मुख्यरूप से व्यञ्जक होगा वहाँ उसका विशेषणीभूत वाच्यार्थ भी सहकारी रूप से व्यञ्जक माना जायेगा। क्योंकि बिना वाच्यार्थ का ज्ञान कराये शब्द व्यंग्यार्थ का ज्ञान नहीं करा सकता।

उपयुर्क्त विवेचन से यह निर्धारित होता है कि शाब्दी व्यञ्जना के मूल में शब्द परिवर्तन का अभाव है। अर्थात् जहाँ निश्चित शब्द के प्रयोग से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ शाब्दी व्यञ्जना। और जहाँ शब्द परिवर्तन होने पर भी अर्थ विशेष से व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ आर्थी व्यञ्जना होगीं। यहाँ परिवृत्यसहत्व का अभिप्राय लाक्षणिक शब्द से ही मानना चाहिये। अभिधामूला में तो श्लिष्टार्थक शब्द का ही ग्रहण होता है। इसीलिये नियन्त्रितार्थधीजनकत्व शाब्दीव्यञ्जना का स्वरूप माना गया है।

// इति द्वितीयोल्लासः //

तृतीयोल्लासः

(सूत्र–३५) **अर्थाः प्रोक्ताः पुराः तेषाम्**

अर्थाः वाच्य–लक्ष्य–व्यङ्ग्याः। तेषां वाचक–लाक्षणिक–व्यञ्जकानाम्।।

वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक शब्दों के अर्थ द्वितीय उल्लास के सूत्र–६ में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तथा सूत्र–७ में तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ बताये गये हैं।

(सूत्र–३६) **अर्थव्यञ्जकतोच्यते।।**

कीदृशीत्याह

उन्हीं पूर्वोक्त अर्थों की व्यञ्जकता का अर्थात् अर्थ से प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ का निरूपण किया जा रहा है। जिसे आर्थी व्यञ्जना का नाम दिया गया है।

नियंत्रितार्थधीजनकत्वस्वरूप वाली शाब्दीव्यञ्जना की तरह, अर्थ प्रधान उक्त आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप क्या होगा ! यह अपेक्षा होने पर–

(सूत्र–३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः। २१।

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।। २२।।

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य वाच्यलक्ष्य–व्यङ्ग्यात्मनः।

वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, आदि–चेष्टा की विलक्षणता से वैशिष्ट्य से सहृदयों को अर्थ (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ) की प्रतीति के अनन्तर प्रतीत होने वाले व्यंग्य अर्थ में हेतु जो व्यापार है उसे व्यक्तिः या व्यञ्जना कहा जाता है। कहीं–कहीं ये हेतु एक ही स्थान में दो या उससे अधिक एक साथ होते है। उस समय

प्रधानता के आधार पर निर्णय किया जाता है।

१. **वक्तृवैशिष्ट्य–** वक्ता के वैलक्षण्य से। वक्ता कवि अथवा उसके द्वारा निबद्ध नायकादि भेद से दो प्रकार का होता है।

क्रमेणोदाहरणानि–

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।

श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।।

अत्रचौर्यरतगोपनं गम्यते।

उदाहरण– अपनी सामर्थ्य से अधिक बड़ा और जल से भरा घड़ा लेकर शीघ्रता से चल कर आयी हूँ। अतः श्रम के कारण आये पसीने और श्वास प्रश्वास से थकी हुयी क्षणमात्र विश्राम कर रही हूँ।

यहाँ पर कहने वाली का स्वौरिणी होना ज्ञात है। अतः उसके कथन से यह प्रतीत हो जाता है सहृदय को कि यह जल लाने के बहाने अपने तत्काल किये गये परपुरूषोपभोग को छिपाना चाहती है। यहाँ पद्य में प्रयुक्त शब्दों – अतिप्रथुल आदि के स्थान में विपुल आदि शब्द बदल दिये जायें, तब भी वक्त्री नायिका के कामुकत्व वैशिष्ट्य से अर्थान्तर–परपुरूषोपभोग की प्रतीति होगी। और इस प्रतीति में साक्षात् कार्यकारिता अर्थ की है। शब्द मात्र सहकारी है।

२. **बोधव्य–** बोधनीय व्यक्ति, जिसको उद्दिष्ट करके कोई बात कही जाती है। सम्बोध्य व्यक्ति के वैशिष्ट्य से सहृदयों को व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।

मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह ! परिभवति।।

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते।

उदाहरण– हे सखी निद्रा का अभाव (निरन्तरण जागरण) कृशता चिन्ता, आलस्य तथा श्वास प्रश्वास जृम्हा आदि मेरे कारण

तुम्हें भी कष्ट दे रहे है। अर्थात् मैं दुर्भाग्य से कष्टों को भोग रहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हे भी भोगने पड़ रहे है।

इस पद्य में दूती सम्बोध्य है तथा उसका कामुकत्व भी पहले से ज्ञात है। अतः जब नायिका उसके परपुरूषोपभोग जनित चिन्हों को देख कर इस प्रकार कहती है तो दूती के वैशिष्ट्य से सहृदयों को व्यञ्जना से यह प्रतीत होता है कि दूती ने नायिका से सम्बद्ध नायक से रमण किया है।

३. काकु– वक्ता के उच्चारण से उसके क्रोध, शोकादि भावों की प्रतीति को काकु कहा जाता है। काकु–जिह्वाविकार अथवा "भिन्नकण्ठ–ध्वनि को भी काकु कहते है।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां

वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं

गुरूः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।१५।।

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यग्ंयत्वं शक्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

उदाहरण–नृप धृतराष्ट्र की सभा में रजोधर्मयुक्त, केश और वस्त्राकर्षण से विह्वल पाञ्चालतनया द्रौपदी को देखकर, हम लोगों के द्वारा वल्कल धारण करके बहुत समय तक व्याधों के साथ अरण्य में निवास करने पर, विराट राजा के आवास में छिपकर रहने एवं क्षुद्र कार्य करने पर, मेरे क्रुद्ध होने पर राजा को क्रोध आ रहा है। लेकिन जिन कौरवों के कारण हमारी दुर्दशा हुयी, उनके प्रति राजा युधिष्ठिर को आज भी क्रोध नहीं आ रहा है।

यहाँ पर नञ काकु निषेधात्मक ध्वनिविकार के वैशिष्ट्य से "राजा का मेरे प्रति क्रोध अनुचित है, तथा कौरवों के प्रति उचित है"

इस प्रकार के पात्रापात्रवैपरीत्य का व्यञ्जना द्वारा ज्ञान होता है।

यहाँ किस पर खेद (क्रोध) करना चाहिये और किस पर नहीं करना चाहिये, "इस प्रकार की पात्रापात्र की विपरीतता के कारण क्रोध के करने और न करने रूप वाक्यार्थ का पर्यवसान नहीं हो पाता है। अतः वाक्यार्थ सिद्धि के लिये यहाँ व्यंग्य की अपेक्षा होने से इसे गुणीभूत व्यंग्य का अंग क्यों न माना जाय ?

यहाँ काकु से ज्ञात व्यंग्य वाच्यसिद्धि का अंग नही है। अपितु "न भजति" इस प्रश्न मात्र से ही काकु की विश्रान्ति हो जाने के कारण वाक्यार्थ का पर्यसान हो जाता है। तदन्तर मेरे प्रति क्रोध उचित नहीं है, इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। "मथ्नामि कौरवशतम्" में प्रतिज्ञाबद्ध भीम का कथन अपर्यवसित होने के कारण "अवश्यमेव मथ्नामि" इस अर्थ की प्रतीति के बाद वाक्यार्थ का पर्यवसान होने के कारण वहाँ गुणीभूतव्यंग्य ही होगा। यहाँ पर नहीं।

४. **वाक्य–** साकांक्ष पदों के समूह को वाक्य कहते है।

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्त्र।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टि।।

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते, इति व्यज्यते।

उदाहरण– जिस समय मेरी सखी मेरे समीप उपस्थित थी, उस समय मेरे कपोलों पर पड़ने वाली दृष्टि को एक क्षण के लिये भी इधर–ऊधर नहीं किया। लेकिन इस समय मेरी सखी के चले जाने पर मैं भी वहीं हूँ, मेरे कपोल भी वहीं है, लेकिन तुम्हारी दृष्टि में वह स्निग्धता नहीं है।

यहाँ पर कोई नायिका अपने नायक को अपनी सखी पर आसक्त देखकर कह रही है। नायक–नायिका के समीप स्थित उसकी सखी को नायिका के भय से सीधे न देखकर नायिका के कपोल पर पड़ रहे उसके प्रतिबिम्ब को अपलक देख रहा है। लेकिन नायिका की

सखी के चले जाने पर नायक का देखना बन्द हो जाता है। नायिका इस रहस्य को जान जाती है, और उक्त वाक्य कहती है।

यहाँ पर नायिका द्वारा कहे वाक्य वैशिष्ट्य से सहृदय को नायक के स्वच्छन्द कामुकत्व की प्रतीति व्यञ्जना से होती है।

५. वाच्य–शक्यार्थ या अभिधेयार्थ। वाच्यार्थ के वैशिष्ट्य से सहृदयों को व्यंग्यार्थ की जहाँ प्रतीति होती है, उसे वाच्यवैशिष्ट्यजन्य व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः।
किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः।।१७।।

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम्।

उदाहरण– नर्मदा का यह ऊर्ध्व प्रदेश स्निग्ध (हरे–भरे तथा सघन) कदली की पंक्तियों से अतिशय शोभायमान है। कुञ्जों का उत्कर्ष या पुष्पों की सुगन्धि और भ्रमरों के गुञ्जन से नायिकाओं में विभ्रम अर्थात् चित्त में कामजनित चञ्चलता का उन्मेष हो रहा है। और भी इस प्रदेश में अर्थात् नर्मदा के भूभाग में रूठी हुयी नायिकाओं के मानभङ्ग करने में दक्ष कामक्रीड़ा के सहयोगी प्रसिद्ध पवन (शीतल, मन्द, सुगन्धित) प्रवाहित हो रहे हैं। जिनके आगे–आगे असमय में लोगों के प्रति कुपित या काम को उत्पन्न करने वाला कामदेव भी चल रहा है।

यहाँ पर कोई नायक अपनी प्रेमिका या दूती अपनी सखी से कह रही है। यहाँ नायिका के लिये तन्वी तथा नर्मदा प्रदेश भाग का उल्लेख है। इसी प्रकार कदलीश्रेणी तथा कुञ्ज आदि का भी प्रयोग किया गया है। जिसमें क्रमशः सर्वथा सम्भोग की अनुकूलता ज्ञात होती है। अतः वाच्यवैशिष्ट्य से सहृदय को यह प्रतीत होता है कि

तन्वी नायिका को रमणार्थ प्रेरित किया जा रहा है।

६. अन्य सन्निधि– वक्ता और श्रोता से भिन्न तृतीय की उपस्थिति को अन्य सन्निधि कहते है। इसमें श्रोता को माध्यम बनाकर तटस्थ को बताया जाता है।

नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।

क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः।।

अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इतिं तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते।

उदाहरण– मेरे प्रति निष्करूण मेरी सास (श्वश्रु) पूरे घर के कार्यों के लिये मुझे दिन भर प्रेरित करती है। सांयकाल ही क्षणभर के लिये कभी विश्राम मिलता है या कभी नहीं मिलता है।

इस पद्य में वक्त्री है नायिका। सुनने वाली दूती या कोई अन्य स्त्री है। संकेत उपनायक के लिये है। जो रमणार्थ संकेत के लिये नायिका से अपेक्षा करता है। उसको साक्षात् न कह कर दूती या पड़ोसनी के सन्निधि से संकेतित करती है। श्वश्रू की आज्ञा टाली नहीं जा सकती। अतः संध्या का समय ही उपयुक्त है।

७. प्रस्तावः– प्रकरण है, प्रकरण विशेष से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहारमात्रेण।

एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम्।।

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसतुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते।

उदाहरण– कोई सखी उपपति से रमण हेतु जाने को उद्यत नायिका को उसके पति के प्रहर मात्र में आने की सूचना देने के समय कहती है–मैनें सुना है कि प्रहर मात्र में तुम्हारा पति आने वाला है। फिर इस प्रकार रमण के लिये क्यों उद्यत हो, पति के भोजनादि की व्यवस्था करो।

यहाँ नायिका द्वारा कामुकोपभोग का प्रकरण है। नायिका तदनुकूल श्रृंगारादि समन्वित हो कर अन्य के समीप है। अतः सखी सीधे न कह कर पति के आगमन की सूचना देकर नायिका को रोकती है।

८. **देशः**– स्थान विशेष के वैलक्षण्य वैशिष्ट्य से सहृदय को व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरूध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः।।

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते।।

उदाहरण– कोई कामिनी अपने प्रिय से रमण की अभिलाषा से किसी एकान्त स्थान में सखियों के समक्ष अपनी विश्वस्त सखी से कह रही है– मेरी सखियों ! दूसरे स्थानों में जाकर आप लोग पुष्प तोड़ें। मैं यहाँ पर तोड़ लूँगी। क्योंकि मैं दूर जाने में समर्थ नही हूँ। साथ दूर तक न चल पाने के कारण मैं हाथ जोड़कर क्षमा प्रार्थी हूँ।

यहाँ एकान्त स्थान होने के कारण सहृदय को ज्ञात होता है कि नायिका अपनी विश्वस्त सखी को निवेदन करती है कि छिप कर यहाँ उपस्थित कामुक को मेरे पास भेज दो। यह व्यंग्यार्थ स्थान वैशिष्ट्य के कारण प्रतीत होता है।

९. **काल**– समय विशेष के वैशिष्ट्य से सहृदयों को व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। काल का अभिप्राय ऋतु विशेष से है। ऋतु विशेष में प्राणियों की चेष्टाओं में परिवर्तन व्यवहार सिद्ध है। यहाँ काल वैशिष्ट्य से वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति होती है।

गुरूजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम्।

अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रेष्यासि करणीयम्।।

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तव तु

न जानामि गतिमिति व्यज्यते।

उदाहरण– गुरूजनों के पराधीन होकर उनकी आज्ञा से इस वसन्त में विदेश जा रहे हो तो जाओ। मैं मन्दभागिनी तुम्हें जाने से रोकने में असमर्थ क्या कर सकती हूँ। तुम्हारे जाने के बाद मेरे लिये क्या करणीय है यह तुम स्वयं सुनोगे। मैं तुम्हारे विषय में नहीं जानती हूँ।

यहाँ पर वसन्त में गुरूजनों की अनुल्लंघनीय आज्ञा के कारण विदेश जाने के लिये उद्यत नायक से उसकी नायिका कह रही है। गुरूजन तो जड़ है। उनकी आज्ञा तो टाली नहीं जा सकती है। लेकिन तुम्हारे वियोग में मैं इस वसन्त में प्राण धारण नहीं कर सकती। यहाँ व्यंग्यार्थ सहृदयों को काल विशेष के वैशिष्ट्य से प्रतीत होता है।

१०. चेष्टा– (यहाँ कारिका में प्रयुक्त आदि पद से चेष्टा–लीला हाव भावादि का ग्रहण होता है। चेष्टादि से हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। यहाँ चेष्टा वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति को बताया जा रहा है।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः। तत्र चेष्टाया यथा –

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया

प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।

आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने

वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते।।

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते। वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन।

अनेन क्रमेण लक्ष्य–व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम्।

उदाहरण– कोई नायक अपने मित्र से कह रहा है कि मेरे द्वारा उसके द्वार में उपस्थित होने पर उस सौंदर्यतत्व की श्रीस्वरूपिणी नायिका ने मुझे देख कर अपने जंघायुगल को पहले फैलाया और बाद में दोनों को संलग्न कर लिया। या आपस में जोड़ दिया। शिरोंशुक (शिर के वस्त्र) से मुख ढ़क लिया। तथा अपने चञ्चल नेत्रों को नीचे की ओर झुका लिया। उस समय उसने अपनी सखियों के मध्य तेजी से बोलना बन्द कर दिया। और अपनी भुजलताओं को संकुचित करके आपस में मिला दिया।

यहाँ नायिका प्रच्छन्न वेश में आये हुये नायक को अपनी चेष्टाओं से भावी रमण और समय आदि को संकेत कर रही है। अर्थात् अपने संकेतों से व्यक्त कर रही है कि मैं तुम्हे विपरीत रति का आनन्द प्रदान करूँगी। तुम्हे छिपकर कोलाहल रहित होकर सूर्यास्त के समय आना होगा। इस प्रकार यहाँ नायिका की चेष्टाओं से व्यंग्य विशेष की प्रतीति होती है।

यहाँ तक मम्मटाचार्य ने वक्त्रादि वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति के पृथक–पृथक उदाहरण दिये हैं। जिसका उद्देश्य जिज्ञासु को समुचित ज्ञान कराना है। अन्यथा शंकरादिवैशिष्ट्य से दो तीन उदाहरण ही पर्याप्त थे। इनमें से जहाँ कहीं वक्त्रादि, कई एक साथ हों वहाँ प्रधानता अप्रधानता के आधार पर निर्णय करना चाहिये। कहीं–कहीं यह उदाहरण वक्त्रादि में से दो या तीन के परस्पर संयुक्तरूप में भी देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भी वक्त्रादि वैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ प्रतीति का निर्णय करना चाहिये।

मम्मटाचार्य ने वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य से वक्त्रादिवैशिष्ट्य से व्यंग्य प्रतीति के उदाहरण निर्दिष्ट किये हैं। लेकिन तात्पर्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति का पृथक उदाहरण न देकर इन्हीं उदाहरणों में अन्तर्भाव कर दिया है। यहाँ छात्रों की जानकारी हेतु लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

तात्पर्यार्थ वाक्यार्थरूप होता है। वह पदार्थ से भिन्न होने के कारण संकेतग्रह के अभाव में अभिधा से प्रतीत नहीं हो सकता। तथा वृत्ति के बिना पदार्थ की प्रतीति भी नहीं हो सकती। क्योंकि वृत्ति से ही पदजन्यपदार्थोपस्थिति शाब्दबोध के प्रति कारण मानी गयी है। तात्पर्यवादी भाट्टों के मत में वाक्य में तत्तत् (संकेतित) पदों द्वारा अभिहित पदार्थों का परस्पर समन्वय होता है। इस प्रकार– "देवदत्त काष्ठ से स्थाली (बटलोई) में चावल पका रहा है"। यहाँ पर प्रातिपदिक और प्रत्यय से युक्त पदार्थों का ज्ञान पहले अभिधा से होता है। अनन्तर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से परस्पर सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती है। अतः देवदत्तकतृक काष्ठ करणक स्थाल्याधिकरणक ओदन कर्मक पाक रूप वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। अथवा काष्ठकरणक स्थाल्यधिकरणक ओदन कर्मक पाकानुकूल कृत्तिमान देवदत्त है। अथवा देवदत्त कतृक स्थाल्यधिकरणक काष्ठकरणक ओदन कर्मक पाक और तत्करणिका भावना। इस प्रकार के मतभेद से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ वाक्यार्थ की प्रतीति तीन प्रकार से दिखाई गयी है। जिसमें प्रथम मत वैयाकरणों का, द्वितीय नैयायिकों का तथा तृतीय मत मीमांसकों का है। उपर्युक्त वाक्य में देवदत्त कर्ता, काष्ठ करण या साधन, स्थाली चावलों का आधार और चावल क्रिया का आश्रयभूत कर्म तथा पाक क्रिया है। यह वाक्यार्थ किसी पद विशेष का न होकर अपदार्थ रूप में भाषित हो रहा है। अब इस ज्ञात अपदार्थ (वाक्यार्थ) के ज्ञान में कौन सी वृत्ति होगी। यह आकांक्षा होने पर वैयाकरण वाक्य की शक्ति वाक्यार्थ में मानते है, अतः उनके मत में अभिधावृत्ति से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होगा। नैयायिकों के मत में संसर्गमुद्रा से वाक्यार्थ की प्रतीति होगी। तथा मीमांसक लक्षणावृत्ति मानेंगे। इस प्रकार यहाँ तीनों मतों से ज्ञात अर्थ के बाद भी अन्यार्थ की प्रतीति होती है तथाहि– चावल पकाने के कोयला, गैस, हीटर आदि अनेक साधनों के होते हुये भी देवदत्त काष्ठ से ही चावल पकाता है। क्यों ? यह जिज्ञासा होने पर–काष्ठ से पकाये चावल में रूचिकरत्व और पौष्टिकत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। यह प्रयोजन के रूप में प्रतीत होने

वाला अर्थ उक्त तीनों मतों के अनुसार अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्याख्या वृत्ति से प्रतीत नहीं हो सकता है। अतः आलंकारिकों के मत में व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रतीति होगी।

(सूत्र–३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता।।२३।।

शब्देति। नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः।।

इति श्री काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः।।३।।

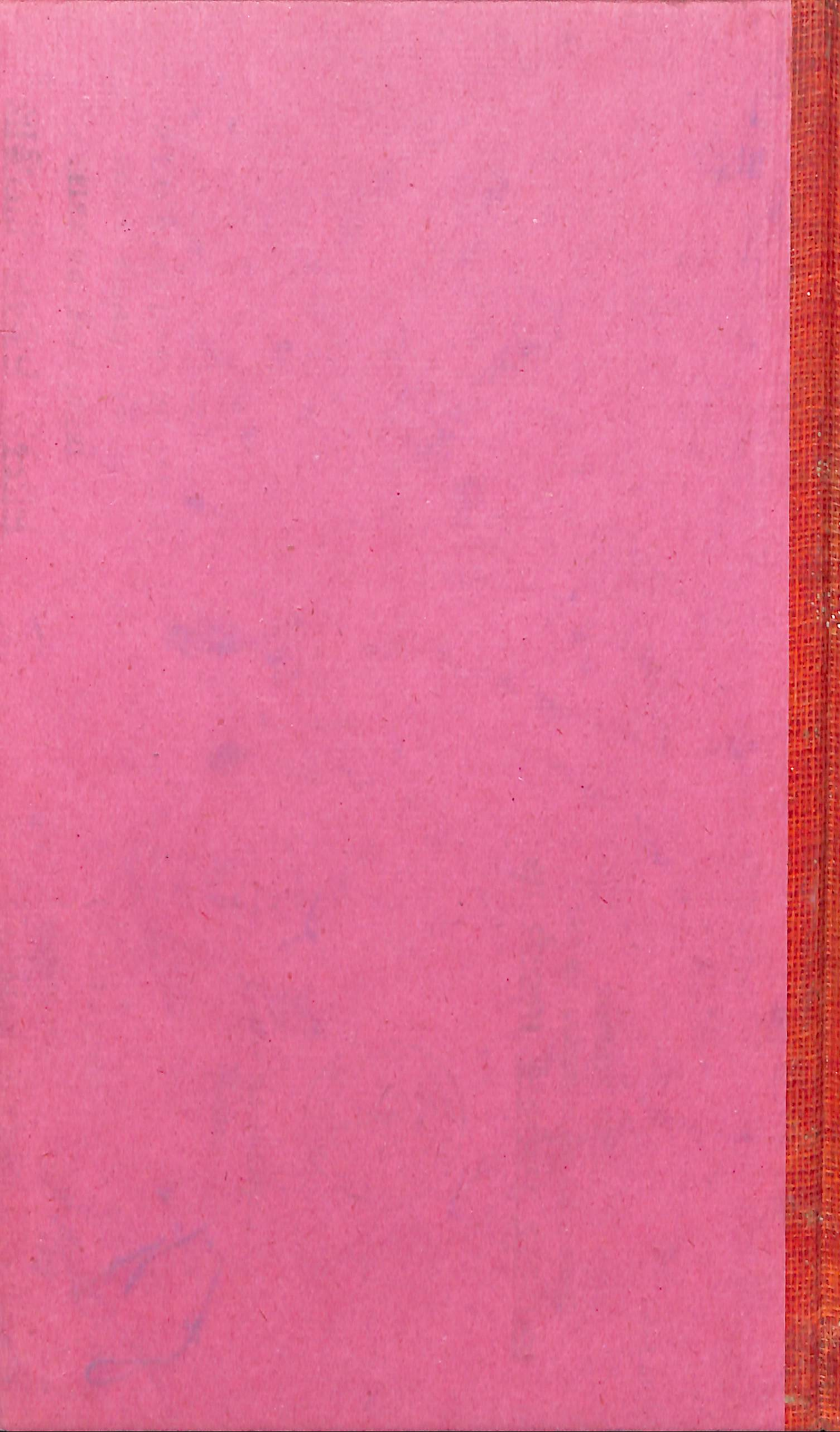
द्वितीय उल्लास के अन्त में बताया गया था कि शब्द अर्थान्तर से युक्त होकर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराता है। अतः शब्द की वयञ्जकता में अर्थ सहकारी कारण बताता है। इसी प्रकार– शब्द प्रमाण द्वारा प्रतीत अर्थ ही अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति कराता है। अतः जहाँ अर्थ में व्यञ्जकता होती है वहाँ शब्द सहकारी बनता है।

ॐ शम्

तृतीय उल्लास पर्यन्त निरूपित विषय के अनुसार "शब्दार्थौ काव्यम्" इतने अंश की पुष्टि होती है।

।। इति तृतीयोल्लासः ।।





हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

आदिपुराणम् । महर्षि सनत्कुमार कृत मूल एवं हिन्दी अंगेजी भूमिका सहित *डॉ. जगदीश नारायण दुबे*	Rs. 150 = 00
भारतीय संस्कृति विमर्श । संस्कृत *डॉ. गिरीश दत्त पाण्डेय*	Rs. 25 = 00
भारतीय संस्कृति । हिन्दी *डॉ. जगदीश नारायण दूबे*	H.B.Rs. 60 = 00 P.B. Rs. 40 = 00
संकटाष्टकम् । *पं. हरिहर दत्त दीक्षित*	Rs. 10 = 00
सत्यनारायण व्रत कथा । *आचार्य राजेन्द्र पाण्डेय एवं हरिहर दत्त दीक्षित*	Rs. 20 = 00
आदित्यहृदय स्तोत्रम् । वाल्मीकीयरामायणोक्तम् नवग्रह स्तोत्र चाक्षुषोपनिषद सहितम् *पं. हरिहर दत्त दीक्षित*	Rs. 5 = 00
श्रीमहाविद्यास्तोत्रम् । हवन प्रयोगविधि सहित *पं. हरिहर दत्त दीक्षित*	Rs. 10 = 00
रघुवंशमहाकाव्यम् । द्वितीय सर्ग–हिन्दी व्याख्या सहित *डॉ. बदरी नारायण पाण्डेय*	Rs. 20 = 00
षष्ठीदेवी स्तोत्रम् । पं. हरिहर दत्त दीक्षित	Rs. 7 = 50
बृहदवकहड़ाचक्रसहितम् : (बालबोध ज्योतिषम्) हिन्दी व्याख्या सहित सम्पादक– आ. कृष्ण कुमार पाण्डेय	Rs. 25 = 00

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

धार्मिक पुस्तक मन्दिर

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

(पूर्वी गेट), जगतगंज, वाराणसी– २२१००२

मूल्य : Rs. 65-00/-